भूमिका

राह न रुकी—एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें मैंने बुद्ध-महावीर युग के उस पुनर्जागरण को प्रस्तुत किया है, जो हजारों साल के वैदिक युग के अंत में भारत में उपस्थित हुआ था। यह बात कितनी महत्त्व-भरी है कि आज हम एक नये पुनर्जागरण में हैं!

पुरुष और स्त्री, तथा व्यक्ति और समाज और राज्य और हिंसा, यह प्रश्न उस समय भी थे और आज भी है। भारत में वह युग था सामंतीय संस्कृति के उदयकाल का, और आज का युग है सामंतीय संस्कृति के अंत का। ढाई हजार साल के इस समय के दो छोर हमारे सामने मौजूद हैं और हमें इन्हीं सवालों का जवाब देना है। *अपने लेखन में यद्यपि मैंने मूलभूत समस्याओं को उठाया है,* परंतु उन्हें आज के दृष्टिकोण से नहीं देखा। मेरे पात्र अपने युग के दृष्टिकोण से देखते हैं।

सती वसुमति को जैन साहित्य में चंदनबाला के नाम से बड़ी साध्वी के रूप में माना गया है। उसका ऊंचा स्थान है। महावीर स्वामी ने स्त्री-संघ के लिए उसे सबसे ऊंची जगह दी थी। परंतु वसुमति की कथा में भी, अन्य कथाओं की तरह, जैन पुराणकार इतिहास में ठीक नहीं बैठे हैं। नामों में गड़बड़ होती है। मृगावती एक ओर बिंबसार की स्त्री है, एक ओर शतानीक की। शतानीक को सन्तानिक भी लिखा है। शतानीक की स्त्री मृगावती जैनमार्ग अपनाती दिखाई गई है, जब कि उसका पुत्र उदयन तक जैन-बौद्ध संप्रदायों से इतना प्रभावित नहीं हुआ। यह बौद्ध और जैन पुराणकारों की आदत है कि वे सबको अपने रंग में रंगा हुआ दिखाते हैं। इसी तरह अङ्ग के दधिवाहन की पत्नी बताई गई है मगध की पद्मावती। मगध की पद्मावती भास के अनुसार ब्याही थी उदयन को, और उदयन था शतानीक का पुत्र। पद्मावती थी अजातशत्रु कुणिक की पुत्री। इसीलिए मैंने नामों के इस झंझट को महत्त्व नहीं दिया। दूसरे शतानीक ने अङ्गदेश जीता नहीं था, क्योंकि

जरिता आ गई।

मैंने पूछा, "ले आई?"

"हां, ले आई।"

उसने मेरा कटिबंध मुझे दे दिया। और कहा, "गिरते ही यह हलका-सा उ[illegible] और बगल में झाड़ी पर जा गिरा। तभी धूल नहीं लगी इसे। पर कुमारी अब [illegible] गिराना इसे। चलो सारथी!"

सारथी ने रथ बढ़ाया।

मैंने कहा, "जरिता अम्मां! कटिबंध गिरा और जितनी देर में तुम इसे लाईं उतनी देर में तो यहां मैंने युद्ध देख लिया।"

"अरे! किसने लड़ाई की?"

"वही, कोई दो औरतें थीं। एक आदमी समझा रहा था।"

जरिता ने कहा, "भली चलाई कुमारी! इन औरतों का क्या? दिन-भर लड़ती हैं। ऐसी-ऐसी गालियां देती हैं कि कहा नहीं जा सकता।"

वृद्ध सारथी मारुत हंसा और बोला, "और राजकुमारी! सांझ होते ही सब मिलकर बैठ जाती हैं और गीत गाती हैं और जब गीत खतम होने को होते हैं तो फिर लड़कर अलग होती हैं।"

जरिता ने समझाया, "नीच लोग हैं। बुनकर, बुनकर। इनका क्या छोटी स्वामिनी! गाली तो ऐसी देती हैं कि सुनने से कानों में आग लगती है। हम तो आप जैसों के पास रहती हैं, वहां रहने से अब हम भी सुनती हैं तो शरम आ जाती है। सच! पुरुष भी लजा जाएं, मगर इन्हें रोक नहीं। जो मन आए बक जाएं।"

मैंने पूछा, "पर लड़ती क्यों हैं?"

"गंवार हैं," सारथी ने कहा, "पुरुष को तो धन्धा करना पड़ता है। सब तरह के लोगों से काम पड़ता है, घर के बाहर रहता है। इन्हें क्या है? दिन-भर घर रहना। खाना, पीना और झगड़ना। छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई हो जाती है। बच्चे सीखते हैं।"

[illegible] छ [illegible] !" जरिता ने कहा, "ऊधम तो तब होता है इनका [illegible] तो [illegible] रह जाते हैं, पर कभी कोई उबल प[illegible]

फिर तो लट्ठ बज जाते हैं। ऐसी ग्राग लगा देती हैं ये स्त्रियां।"

रथ ग्रब खुले मैदान में ग्रा गया था। दोनों तरफ पेड़ों की बड़ी ग्रच्छी हरि-ली दिखाई दे रही थी। उनपर कोसल पक्षी उड़ रहे थे। मुझे बड़ा ग्रच्छा लगा। कहा, "जरिता! देख यह जगह कितनी सुन्दर है! दूर तक फैले हुए खेत। ी कालीनों से भर गई है धरती। तरह-तरह की हरियाली है। मखमली, रेशमी र सब कितनी प्यारी है।"

"हां बिटिया!" जरिता ने कहा, "तुम ग्रच्छी हो तो सब ग्रच्छा लगता है।"

मैंने कहा, "जरिता! वह छोटे-छोटे घरोंवाला गाव वहा कैसा प्यारा लगता उन घने पेड़ों की छाया मे! एक बार गाव तो मैं चलूंगी। चलो, ग्रभी चलें।"

"फिर कभी चलेंगे बिटिया! सैनिक भी साथ लाएगे। ऐसे जाना ठीक नहीं "

"नही। ठीक क्यो नही है? जरूर ठीक है।"

"देखो बिटिया। हठ नही करते, मैं बडी हू न तुमसे?"

"तो क्या हुग्रा? जरिता ग्रम्मा! तू तो बड़ी ग्रच्छी है। चलने मे दोष ही ा है?"

"लेकिन बिटिया! महारानी मुझे कितना डांटेंगी। मुझे बन्दीगृह मे डलवा ी।"

"ग्रौर मेरी तो नौकरी चली जाएगी!" सारथी ने कहा।

"नहीं, कुछ नही होगा। तुमसे ग्रम्ब कुछ नही कहेंगी। मैं समझा लूगी। कह ा, हम क्या करते! मालकिन ने ग्राज्ञा दी। जाना पड़ा—ठीक है!" मैं हंसी व वे दोनों भी मुस्कराए।

"चल भैया मारुत! कैसे करूं। मेरा तो जी भीतर ही भीतर कांप रहा है। हारानी कहेगी कि बिटिया तो बच्ची है, तुम क्यों गए! चल मारुत! जो होगा ा झेलना ही पड़ेगा।"

रथ उड़ने लगा।

मारुत ने कहा, "पर राजकन्ये! वह गांव दूर से ही ग्रच्छा लगता है। पास नहीं लगेगा। गांव के घर कच्चे होते है। ग्रापकी-सी ... ? रास्ते

कच्चे हैं। दो-चार ब्राह्मण पुरोहित होंगे; वैसे तो अधिकतर मोटे कपड़े पहने मिलेंगे और फिर अभी एक दृश्य देखा था न ? वैसा ही होगा वहां भी। और जब जानेंगे कि स्वयं राजकुमारी आई हैं तो और घबरा जाएंगे।"

मैंने कहा, "तो यह कहने की क्या ज़रूरत है कि हम कौन हैं। वैसे ही नागरिक हमसे बचते हैं। बताना नहीं कुछ।"

जरिता ने माथे पर हाथ लगाकर कहा, "खूब कहती है बिटिया भी ! बताना ही नहीं। ऐसी सुन्दरता है तुम्हारी, मिलेगी कहीं ढूंढ़े से ! कैसे छिप जाएगी ?"

"नहीं, बताना नहीं !"

रथ गांव पहुंचा। मैंने कच्चे घर देखे। हम उतर गए।

"मारुत, उस पेड़ के नीचे ठहर जा।"

"नहीं राजकन्ये ! मैं भी चलता हूं।"

"अरे तू खाली बिटिया कह।"

जरिता और मारुत ने एक-दूसरे की ओर विवशता से देखा। दिन का समय । पुरुष खेतों में थे। एक-आध बूढ़ा किसी पेड़ के नीचे खटोले पर पड़ा था और [illegible]पे और मक्खियों को पाल रहा था। कोई-कोई बुढ़िया चर्खा चला रही थी एक युवती ने देखा तो पास आ गई।

पूछा, "कौन हो तुम लोग ?"

जरिता ने मेरी ओर देखा।

मैंने कहा, "ऐसे ही घूमने चले थे। प्यास लग आई। पानी है ?"

"अरे पानी की क्या कमी ! किसी बड़े घर की लगती हो ! ब्याह हो गया ?"

जरिता ने कहा, "नहीं।"

"हाय दैया !" उसने कहा, "इतनी बड़ी लड़की का ब्याह नहीं हुआ !" फिर व्यंग्य से कहा, "बड़े घर की ठहरीं।"

कुछ बच्चे भी आकर इकट्ठे हो गए। छोटे बच्चों की नाक बह रही थी।

"पानी तो ला !" जरिता ने कहा, "कौन जाति हो तुम लोग ?"

"हम क्षत्रिय हैं।" स्त्री ने गर्व से कहा और कलसा-रस्सी लेकर कुएं की ओर चली गई।

मैं देखती रही। बच्चे मुझे कौतूहल से देख रहे थे। तभी एक बोला,"नानी! नानी आ गई है।"

देखा मैंने। सफेद ऊन के से बाल। चेहरे पर झुर्रियां, हाथों पर हड्डी और नसों का उफान। आंखों में कीचड़। मुंह में दांत नहीं। बैठकर खिसकती थी। सिर झुका हुआ था, पर उसे आंखों से तो दीख रहा था। मुझे उसपर बड़ी दया आई। उसने मेरी ओर हाथ उठाया और आंखों में आंसू भरकर कहा, "वह राक्षसी कहां गई! श्री मुझे कोई मार डालो। यह नहीं रहने देती मुझे।"

उसकी आवाज बड़ी मर्राई-सी थी। और ऐसा लगता था जैसे गले में कफ अटक रहा था। मैं अत्यन्त दुखी हो गई उसे देखकर। उसकी ओर बढ़ी और कहा, "क्यों? क्यों रोती है तू! तुझे क्या दुःख है?"

बुढ़िया शायद ऊंचा सुनती थी। उसने शून्य दृष्टि से मुझे देखा। जरिता ने जोर से कहा, "स्वामिनी पूछती हैं कि तुझे क्या दुःख है?"

इतना सुनना था कि बुढ़िया रोने लगी और बड़बड़ाने लगी। उसकी कोई-कोई बात मेरी समझ में आती थी : 'मुझे मार डालो'''यह राक्षसी मुझे रहने नहीं देती'''यह मुझे खाने को नहीं देती : यह मुझे तरसा-तरसाकर मारती है'''

बच्चे यह देखकर शोर करने लगे। तब बुढ़िया धूल उठाकर उनपर फेंकने लगी और कोसने लगी, "तुम मर जाओ : तुम्हारे मां-बाप को कुत्ते खाएं'''"

इसी समय भरे हुए कलसे में पानी लेकर वह युवती लौट आई। उसे देखकर बुढ़िया थरथर कांपने लगी। वह युवती ऐसी लाल-लाल आंखों से घूर रही थी कि मैं देखकर चौंक गई।

मैंने कहा, "क्या बात है! यह कौन है? तू ऐसे क्यों घूरती है?"

..बुढ़िया की कमर दोहरी हो गई थी और उसने कुहनियां टेककर सिर धरती पर टिका दिया था।

युवती ने कर्कश स्वर में कहा, "चल भीतर!"

इस स्वर में जाने कैसा आतंक था कि वह बुढ़िया खिसकती-खिसकती घर के भीतर चली गई। तब युवती ने बच्चों को फटकारा, "चलो भागो यहां से!"

बच्चे डरकर भाग गए। इस स्त्री का ठाठ मैंने देखा। कलसा र[illegible]उसने

कहा, "लोटा और लाऊं।"

बुढ़िया अभी खिसककर द्वार लांघ पाई थी। युवती भीतर गई और कहा, "अभी यहीं है कुतिया!"

एक लात मारी कि बुढ़िया घिघियाकर चिल्लाई और तब युवती भीतर से लोटा ले आई और मांजकर पानी भरकर बोली, "लो आर्ये।"

मैं खड़ी थी। जरिता ने एक खटोला डाल दिया, युवती के ओटे से उठाकर। मैं बैठ गई और पानी पीने लगी।

युवती ने कहा, "ताजा है कुएं का।"

मैं तो कुछ और ही सोच रही थी। पूछा, "क्यों री, यह बुढ़िया कौन है? तूने इसे लात क्यों मारी?"

"आर्ये!" युवती ने कहा, "यह बड़ी चालाक है।"

और फिर वह चिल्लाई, "ओ तुझे मौत भी नहीं आती! निगल जाएं तु नरक के दूत!"

मैं देखती रही।

जरिता ने कहा, "अरी, क्यों बुढ़िया को सताती है, यह तेरी है कौन?"

"यह!" युवती ने घृणा से कहा, "मेरी मां की मां है, मेरी नानी!"

"नानी!" मैंने कहा, "और उससे तू ऐसे बात करती है?"

युवती ने मुझे ताका और कहा, "यह नानी है?" वह घृणा से हंसी बोली, "इसकी तो बोटी-बोटी काटकर चील-कौओं को खिलानी चाहिए। इ तो ऐसे-ऐसे पाप किए हैं कि कुछ पूछो नहीं। पर यह घर की बात है, तुम्हें बताऊं!"

मुझे उत्सुकता हुई। कहा, "घर की बात है तभी तो हमारे सामने पिशाची की तरह उस बुढ़िया को लाचार जानकर लात मारी है!"

स्त्री झल्ला उठी। बोली, "मैं पिशाची हूं और यह सती है! यह पा अभी क्या है! अभी तो इसकी आंखें फूटेंगी, फिर अंग-अंग में पीब पड़ेगी, कीड़े डोलेंगे। तब यह भूखी-प्यासी पड़ी-पड़ी मल-मूत्र में लिसड़-लिसड़कर तड़पकर मरेगी। मैं पिशाची हूं? यही तो इस पापिन का कमाल है। जब

तब रूप के बल पर लोगों को छला और अब बूढ़ी है तो बुढ़ापे के बल पर छल रही है। और मैं पिशाची हूं ! हे ईश्वर ! हे मिरिमा यशी ! यह पापिन नहीं मरी, लोगों के जवान और होनहार बेटे मर जाते हैं। अरे खाए बैठी है यह अपने तीन-तीन बेटों को। इसके पाप ने सबको खा लिया, सबको चबा गई यह राक्षसी !"

मैंने उस अंधविश्वास को देखा और कहा, "यह खा गई या उन्हें उनका कर्म-फल खा गया !"

"कर्मफल कहां से आया आर्ये ! मैं तो इसके कर्म जानती हूं। इसने मेरी मां के विधवा होने पर उसे दासी की तरह घर में रखा।"

"अपनी बेटी को !"

"बेटी खास कहां थी। सौत की बेटी थी न ? बैलों से भी ज्यादा काम लेती थी उससे। वह बिचारी बड़ी सीधी थी !"

युवती की आंखों में पानी आ गया। उसने फिर कहा, "तीन-तीन बेटे थे इसके। इस कुलटा ने चालीस साल की आयु में एक मित्र बनाया अपने वैधव्य में। जार ! व्यभिचारिणी ! और इसे जब मेरे एक मामा ने देख लिया तो उसे विष देकर मार डाला। ऐसी थी यह व्यभिचारिणी ! अब सती हो गई बूढ़ी होकर। दो मामा और थे। उनमें से एक ने अपमान और लज्जा से आत्महत्या कर ली। तीसरा ज्वर से मर गया। तीनों की विधवाएं रह गईं। एक कुएं में कूदकर मरी, इसके अत्याचारों से तंग आकर। एक वेश्या बन गई, इसके भयानक दण्डों से। उसकी हथेलियों पर यह अपनी खाट के पाये रखकर सोती थी ! तीसरी मेरी मा के साथ दिन काटती रही किसी तरह। उसके एक पुत्र था न। जब हम दोनों बड़े हुए तब इसने मुझे यहां ब्याह के नाम पर बेच डाला, और तब इसका समय बदला। मेरा ममेरा भाई जब जवान हो गया तो उसका ब्याह हुआ और वह आई तो उसने इसके नाकों चने चबवा दिए। तब इसने उसपर लांछन लगवाया अपने पुराने जार के पुत्र द्वारा। वह बिचारी पवित्र थी। मर गई लज्जा से। इसने जार के पुत्र को छिप-छिपकर घर लुटा दिया। मेरी मां और मामी भी मर गईं। ममेरा भाई अकेला रह गया। तब इसने उसे धतूरा खिलाकर पागल कर दिया और बैठी

ही। अंत में जार-पुत्र ने सारी भूमि को हड़प लिया। जब भूखी मरने लगी त
हां आ गई निर्लज्ज और यहां मेरा जीवन इसने नरक कर दिया है। रोज इध
से उधर भिड़वाती है। यह है राक्षसी या मैं हूं? क्या दिया है इसने मुझे उ
उठाकर इसको चराऊं? जरा इधर गई कि चुपचाप बच्चे के लिए रखा दूध प
जाएगी। वनदेवता के लिए मैंने दीप जलाने को घी निकाला और दीवट मांज
गई; लौटी तो घी चट कर गई। कहने लगी, 'बिल्ली खा गई होगी।' पड़ोस
के बच्चों से कहती है, 'सब मर जाओ? सबकी लाशें निकलें।' "

मैं कांप उठी।

उसने फिर कहा, "जाने किस जनम का पाप है कि मैं भोग रही हूं। जी तो
करता है इसे दरांती से काट दूं, पर मुझे पाप लगेगा। जो भोगना है तो इसी जन्म
में भोग लूं। हे ईश्वर! अगले जन्म में मुझे स्त्री नहीं बनाना। एक दिन भी इसके
कारण स्वामी को सुख नहीं दे सकी। घर से निकाल दूं तो राह पर भीख मांग-
मांगकर हमारी बदनामी करती है!..."

उसने आंखें पोंछीं। और मैंने देखा बूढ़ी भीतर एक स्तंभ से टिकी बंधी थी।
कैसी दयनीय लग रही थी वह!

जरिता ने कहा, "चलिए राजकन्ये! देर हो जाएगी।"

"राजकुमारी?" युवती चौंक उठी और उसने झपटकर मेरे पांव पकड़कर
कहा, "अब तक बताया भी नहीं! मैं नहीं जानती थी तभी अपराध हुआ। क्षमा
करिए राजकुमारी! कुछ भी सम्मान नहीं कर सकी मैं!"

मैंने कहा, "सम्मान तो तूने किया! पानी पिलाया न?"

"राजकुमारी! दीन के पास और था ही क्या जो देती। सच! मैं बहुत
दुःखी हूं।" यह कहकर वह रोने लगी।

मारुत रथ की ओर बढ़ चला।

मैंने उसे अपना कंकण उतारकर दिया और कहा, "तेरा नाम क्या है री?"

"सुखी रहें। महाराजा से ब्याह हो। स्कंद-से पुत्र की माता बनें। पति-प्रेम
मिले!"

"तेरा नाम?"

"हाँ स्वामिनी ? मेरा नाम है वनिता।"

"देख ! बूढ़ी को उसके पाप भोगने दे।"

"मैं क्या रोक सकती हूँ ?"

"उसे माफ मत कर।"

"नहीं करूँगी राजकन्ये ! पर उसने जो किया है वह क्या दण्ड के योग्य नहीं है ?"

"है अवश्य ! पर पाप-पुण्य का फल विधाता देता है न ?"

उसने स्वीकार किया।

मैं रथ से उतर गई। वनिता ने फिर मेरे चरण छुए। रथ चल पड़ा। मैं सोचने लगी। बोली, "अरिष्ट अम्मा ! वह भी क्या स्त्री थी ! बूढ़ी ! स्त्री भी ऐसा कर सकती है क्या ? स्त्री इतनी भयानक भी हो सकती है ?"

वनिता ने कहा, "राजकन्ये ! स्त्री क्या नहीं कर सकती। कहावत भी तो है कि स्त्री क्या नहीं कर सकती ? स्त्री के पीछे तो संसार में बड़े-बड़े अनर्थ हुए हैं। स्त्री ने तो भीषण संहार कराए हैं। पुरुष जाति क्रूर होती है। उसकी सबाहर स्त्री ने स्त्री पर तो ऐसे-ऐसे अत्याचार किए हैं कि कुछ पूछो नहीं।"

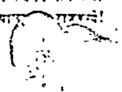
और वनिता ने बात बदलकर कहा, "बिटिया ! देखो कितनी देर कर दी तुमने। महारानी अब तुम पर क्रुद्ध होंगी। मैं क्या कहूँगी ?"

"अरी तू क्यों डरती है ?" मैंने कहा, "मैं स्वयं ही कह दूँगी। हाँ, एक बात बता। स्त्री ऐसा क्यों करती है ?"

"भाग्य है बिटिया ! कौन क्या करता है ? पाप है पाप। धक्के-ठोकर खाते हैं। जब भोगता है, तभी तो ऐसा कठोर हो जाता है हृदय।"

"तूने देखा है किसी और को ?"

"क्यों नहीं देखा ! मेरे ही बचपन की बात है। पड़ोस में एक वैद्य रहता था। साधारण-सा खाता-पीता था। पर उसके पास ऐसा कुछ धन भी नहीं था। उसकी स्त्री बड़ी गर्वीली थी। व्यवहार में उसमें इतना दर्प था कि कहा नहीं जा सकता। उस वैद्य की माँ थी। बिचारी बहू को बहुत प्यार करती थी। मैं उसके पास जाया करती थी। उसने बड़ी-बड़ी मुसीबतें झेलकर उस वैद्य को पाला [illegible] राजकन्ये!



मां का हृदय कितना अच्छा होता है ! चक्की पीस-पीसकर उसने पति
मर जाने पर अपने इस पुत्र को पाला था। उसकी बड़ी-बड़ी साधें थीं। कहती थ
'जब मेरा किंजल्क बड़ा हो जाएगा तो मैं इसका अच्छे घर में ब्याह कर दूंगी। फि
बेटे और बहू के घर में आराम से रहूंगी। फिर थोड़े ही मुझे काम-वाम कर
पड़ेगा ? फिर तो किंजल्क के बच्चों को कहानी सुनाया करूंगी।' राजकुमारी
सच तो यह है कि उसका पति बड़ा अच्छा था। उसकी सास भी अच्छी थी। इत
अच्छी कि वह अपनी सास को मां कहती थी। लेकिन अच्छे लोग संसार में जल
मर जाते हैं, जाने ऐसा क्यों होता है। किंजल्क जब छोटा ही था, तब अचानक
इसके बाप और इसकी दादी का देहांत हो गया। बिचारी किंजल्क को छाती
लगाए अकेली रह गई। परंतु उसने मिठास देखी थी, दैव का खेल समझकर फि
जुट पड़ी। किंजल्क बड़ा हुआ। कमाने भी लगा। तब उसने किंजल्क के लिए अच
घर ढूंढ़कर बहू खोज डाली और ब्याह भी करा दिया। बहू पहले तो ठीक रह
पर जब उसके पुत्र हो गया तो रंग ही पलट गई। पड़ोसिनों ने उसे बहका दिय
क्या कसूर था किंजल्क की मां का ? केवल एक, कि वह बहुत अच्छी, सीधी औ
स्नेह करनेवाली थी। राजकुमारी ! लोक में अच्छी सास का मिलना पूर्वजन्म
पाप-पुण्य पर निर्भर होता है। किसी-किसीको ही अच्छी सास मिलती है। अपने पु
पर दूसरी स्त्री का शासन स्त्री सहज नहीं सहन कर पाती। प्रायः सास की दृष्टि
बहू केवल बच्चे पैदा करने और काम करने के लिए होती है। और प्रायः ही ब
अपनी सास को लड़ाका मानती है जो अपने बेटे को निरन्तर भड़काया करती है
राजकुमारी ! सदा से ऐसा ही होता आया है। बहू आती है तब सास तंग कर
है। जब वही बहू सास बन जाती है तब अपने बेटे की बहू से बदला लेती है। न
कहूं ! पुरुष को युवती स्त्री अच्छी लगती है, इसलिए बुढ़िया को युवती से इ
बात पर काफी चिढ़ होती है। लेकिन कोई-कोई सास तो बहुत अच्छी होती है
किंजल्क की मां ने मेहनत-मजूरी की थी, इसलिए उसमें एक तरह का स्वाभिम
आ गया था। अकारण किसीके बीच में नहीं बोलती थी, न झूठा स्नेह दिखा
थी। नतीजा यह हुआ कि बहू का तनाव बढ़ता गया। किंजल्क की मां सब सह
रही। नौबत यहां तक आ गई कि एक बार किंजल्क ने अपनी मां को मारा, बहू

भड़काने से। बिटिया ! तुम सोच सकती हो, ऐसे समय में मां के हृदय पर क्या बीतेगी ? मैं तुम्हारे घर की दासी हूं, तुम्हारा दिया खाती हूं, तुमसे ही मेरा जीवन है, अब यदि मैं ही तुमसे कभी विश्वासघात कर जाऊं तो ? क्या बीतेगी तुम्हारे मन पर ? यही न कहोगी कि संसार में कोई अच्छा हो ही नहीं सकता ! परन्तु वह बुढ़िया इतनी अच्छी थी कि उसने फिर भी बदला नहीं लिया। बहू ने उसे धिक्कार कर घर से निकलवा दिया। लोगों ने [illegible] की निंदा नहीं की, उलटे बुढ़िया पर ताने मारने लगे। पर वह सब सहती रही, सहती रही। उसने फिर नौकरी कर ली। वहां उसे दासियों की तरह जीवन बिताना पड़ा और मर गई।"

जरिता ने आगे बोलकर कहा, "राजकन्ये ! इस संसार में तरह-तरह के लोग होते हैं। अच्छे लोग दुख पाते हैं और बुरे लोग बड़े चैन से रहते हैं। यह कुछ समझ में नहीं आता। ऐसा क्यों होता है ?"

मारुत ने कहा, "जरिता ! ऐसा तो होता है, पर एक बात क्यों भूल जाती है कि अच्छा-बुरा देखने वाले हम, इसी जन्म को देखते हैं। पर जन्म एक ही तो नहीं होता। पुराने जन्म की याद कहां रहती है ? यह जो कुछ है, वह इसी जन्म की नहीं, पुराने की भी तो करनी है; इसीलिए दैव की गति समझ में नहीं आती। नहीं तो कोई धनी क्यों होता है, कोई दरिद्र क्यों होता है ? कोई श्रेष्ठि परदेस जाता है, तो उसका सब कुछ लुट जाता है, कोई घर बैठे इतना लाभ कमा लेता है, कि उसका कोई अनुमान नहीं कर पाता।"

"ठीक कहता है तू मारुत भैया ! ऐसा ही न होता तो क्यों तुम्हारे ऐसी मुसी-बत आती ! तूने कब किसी को सताया ?"

मैंने पूछा, "जरिता अम्मा ! मारुत को क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं बिटिया," मारुत ने कहा, "तुम क्यों दुखी होती हो, अभी से ? अभी तो तुम्हारे खेलने के दिन ठहरे। यह दुख-सुख तो चला ही करते हैं।"

"बता न मारुत ! क्या बात है !" मैंने कहा।

"बात कुछ नहीं," मारुत ने लम्बी सांस लेकर कहा और फिर चुप होकर रथ चलाने लगा। उसकी वेदना समझकर जरिता ने कहा, "क्या बिटिया ! बिचारे के तीन बिटिया है और तीनों का इसने बड़े [illegible] किया।

महाराज ने स्वयं इसे धन दिया। महाराज के अन्तःपुर तक जिसकी पहुंच हो उस भाग्यशाली को किसकी कमी! लेकिन भाग्य में तो कुछ और ही लिखा था!"

मैंने पूछा, "क्यों? विधवा हो गई दोनों?"

"छिः छिः चिटिया! ऐसा न कहो। बाप का मन है। पर वैसे क्या कम दुःख है। यही समझ लो। बड़ीवाली तो इतनी बीमार पड़ी, इतनी बीमार पड़ी कि उठने-बैठने से लाचार हो गई। तब पति उसके जीते में ही दूसरा ब्याह कर लाया। और वह अभागिन मरने की बजाय उठ बैठी। देखा कैसा खोटा भाग था! अब उसकी सौत तो राज करती है और इसको चिटिया घर में दासी बनकर रहती है, सौत के पांव दबाती है।"

मारुत ने कहा, "कुछ भी हो जरिता! पति के पास तो है ही। आखिर किसी दिन तो नई बहू का जादू कम होगा। इसकी सेवाएं भी असर लाएंगी। कभी तो इसके भी दिन पलटेंगे ही। आई थी घर। बहुत रोई। तब उसकी मां ने कह दिया, 'बेटी! अब तो तेरे लिए अगर कोई जगह है तो तेरे पति का ही घर है। जो हो वहीं भोग। दैव ने चाहा और तुझे पुत्र दे दिया, तो शायद फिर तू पति की आंखों में चढ़ जाए!' बिचारी चिटिया! बड़ी सेवा करती है। सब सो जाते हैं तब आधी रात तक छोटी बहू के पांव दबाती है। भला उसने ऐसा क्या पाप किया होगा!"

मारुत का स्वर भर्रा गया।

जरिता कहने लगी, "चिटिया! राजकन्ये! इस अभागे को क्या कहूं? दूसरी चिटिया है। भरा-पूरा घर था। पति ही कमानेवाला था। जाने क्यों उसका मन फिर गया। एकदम उसका दिमाग फिर गया। घर छोड़कर संन्यासी हो गया जवानी में। अब सारा घर रोता है। वह है कि सबको माया कहता है। कहता है अजीब-अजीब बातें! राजकन्ये! मैं भी मिली हूं उससे। यों कहता था, 'मैं कमाऊं और ये सब बैठकर चरें। इनके लिए मैं पाप करके धन कमाऊं और भोजन तो ये सब खाएं; पर पाप अकेला मुझपर लदे; क्योंकि भरण-पोषण करना मेरा कर्तव्य है। मैं क्यों पाप लादूं अपने सिर पर? आत्मा तो किसीका संबंधी नहीं। यह संबंध तो इस लोक के हैं। कौन किसीका भाई है, कौन किसीकी स्त्री है?

' अपने-अपने मायाजाल के संबंध हैं।' अब घर-भर भूखा मरता है। इसकी बिटिया
ती है। पर वह घर की तरफ मुड़कर नहीं देखता। सास कहती है इसकी बिटिया
कि तेरे कुलच्छनों से मेरा बेटा घर छोड़ गया। जो कुछ मारुत मदद के लिए
ता है, उसे वे सब खा जाते हैं और बिटिया को एक जून भी रूखा-सूखा नहीं
लता है। राजकन्ये! चारों ओर दुःख ही दुःख है।"

मारुत ने कहा, "बिटिया आई थी। मा कहने लगी उसकी, 'बिटिया को यहीं
र लें।' मैंने कहा, 'मैं बूढा, तू बूढ़ी। किसके बल पर रख लें? यहां काम से [illegible]
र तो हैं! बड़े होकर कमाएंगे तो सही। फिर बिटिया को रोटी का सहारा [illegible]
गा।' अपने-अपने कर्म हैं। वह तो हम इसके लिए भोग नहीं सकते। [illegible]
ान लड़की को घर में रखना क्या कम खतरा है राजकन्ये? मैंने तो [illegible]
क बार इस घर से तू गई तो गई। अब तो जीना है तो वहीं जो, मरना है [illegible]
। यहां तेरा क्या काम!' यह तो एक मौके की बात है कि [illegible]
ई नहीं। होता भाई, और आती उसकी बहू तो घर में ऐसे [illegible]
न लेती? अपने घर में लड़की नहीं झेलती तिनके को [illegible]
ती है सूई की चुभन! ठीक है, जिसका जो नियम जहां है [illegible]
कुछ भी हो, बिटिया घर में रहे तो नतीजा अच्छा नहीं [illegible]

मारुत ने लगाम ढीली की और खासा। जरिता ने [illegible]
टिया का हाल सुनाते तो मुझे रोना आता है। सच [illegible]

मैं सुन रही थी। अब कौतूहल और बढ़ा। [illegible]

"अच्छी-खासी ब्याह दी।" जरिता ने [illegible]
द हो तब न? सारे झगड़े देखकर सुना [illegible]
लाड़ों पली बिटिया ब्याह दी उसे। खुद [illegible]
ह के बाद लगा वह मदिरा पीने। [illegible] है
टिया को। देह पर नील पड़ जाते हैं। [illegible]
ई क्या करे? स्त्री है उसकी। वह कुछ भी करे। [illegible]
टिया खाना परोसती है वेश्या को, फिर उसकी जूठी खा[illegible]
ती तो मारता है उसे वेश्या के सामने, और वेश्या हंसती

तरह के व्यभिचारी आते हैं उसके घर। बमुश्किल पड़ी है किसी तरह अपने को बचाए हुए। मुझे तो डर है कि किसी दिन कोई उसे कलंकित न कर दे, उसे वह नीच कहीं बेच न डाले।"

"नहीं,नहीं," मारुत ने काटकर कहा, "मेरी बिटिया है! प्राण दे देगी मगर, पाप न करेगी वह! एक बार उसका पति जूए में हार गया। द्यूताध्यक्ष (जूएखाने का अधिकारी) उसे पकड़ ले गया। नियम से वह दास बन जाता। तब उसने मेरी बेटी को गिरवी रख दिया। सोच सकती हो कैसा पिशाच था वह! पति के लिए बिटिया ने वह भी स्वीकार कर लिया। जुआरी के घर दासी बनी कुछ दिन को। पति कह गया कि शीघ्र छुड़ा ले जाऊंगा। तब आंखें खुलीं जब दरिद्रता में वेश्या ने आंखे फिरा लीं और काम आई धर्मपत्नी ही। परंतु कितने दिन! विलासी की मनुष्यता तो मर जाती है। जुआरी के घर में बिटिया दिन काट रही थी। जुआरी की स्त्री उसे मारती। उसे डर था कि कहीं उसका पति इसे संगा न ले। जुआरी ने एक दिन इसका हाथ पकड़ा तो बिटिया ने कहा, 'अभी जान दे दूंगी। न्यायालय में जाती हूं। इज्जत पर हाथ नहीं डाल। ऐसा तू नहीं कर सकता। पति की गिरवी रखी हूं, बेची नहीं। समझा? खून पी जाऊंगी।' तब वह दबा। इधर इसके पति ने फिर धन कमाया। चला पत्नी को छुड़ाने। पर द्यूताध्यक्ष ने पास में धन देख फिर से बहका दिया। फिर पड़ गया वह खेल में। काफी हार गया और बाकी खा गई एक वेश्या। पत्नी को छुड़ा न पाया। आखिर मैं गया। छुड़ाई बिटिया। मगर क्या हुआ? उसके पति के रंग-ढंग नहीं बदले। मैं जाता हूं तो कहता है, 'ले जा अपनी बेटी। मैं तो इससे वैसे ही तंग आ गया हूं।'"

मारुत ने घोड़े रोक दिए। प्रासाद आ गया। हम उतर पड़े। मेरा मन बहुत भारी हो गया था। सोचने लगी कि यह संसार इतना दुखी क्यों है? इतना पाप यहां क्यों है?

जरिता डरती हुई भीतर चली कि महारानी न जाने क्या कहेंगी। मारुत ने रथ मोड़ा और घुड़साल की तरफ बढ़ चला।

जब मैं भीतर पहुंची, अम्ब चंदन की चौकी पर बैठी थीं और सामने दो-तीन स्त्रियां थीं।

उपला को मैं जानती थी। वह मां के पास आया करती थी। थी अब लगभग चालीस-पैंतालीस वर्ष की।

मा शायद बातों में व्यस्त थी। मुझे देखा तो टोका,"कहां गई थी वसु ?"

और फिर देखा जरिता की ओर और फिर मुड़कर एक दासी से कहा, "श्यामला ! इन्हें गए तो काफी देर हुई थी न ?"

जरिता का मुह सफेद पड गया।

मैंने काटकर कहा, "अम्ब ! मैं एक गाव देखने चली गई थी।"

जरिता कुछ नहीं कह पाई। मैं मां के चरणो के पास बैठ गई। वे हंस दी और मेरे गाल पर हलकी चपत लगाकर कहा, "बड़ी हठीली है तू ! इतनी देर ऐसे विना अंगरक्षकों के घूमना क्या ठीक है ?"

मैंने कहा,"क्या हुआ मा ! वहा तो ..."

"अच्छा, अच्छा !" मा ने मुस्कराकर कहा और मुझे चौकी पर बगल मे बिठाया। मैं मां की कमर मे हाथ डालकर उनके कंधे पर मुह रखकर बैठ गई। मां फिर उपला से कहने लगीं,"देख उपला, तू हमारे महाराज को जानती है। मैंने ही पहले उनसे तेरे लिए कहा था। पर तू जानती है कि वे झूठ से कितना बुरा मानते हैं। उन्हें क्रोध नहीं आता, पर अगर आ गया तो ..."

उपला काप उठी और हाथ जोडकर बोली, "इंद्र, वरुण, अग्नि और यम की साक्षी है महारानी ! मैं झूठ नहीं बोलती। लडकी सामने बैठी है, आप ही इससे बातें करलें। अगर झूठी है तो यह। मेरा क्या है ? विधवा हू। पति के रहते स्त्री सुख पाती है, सो मैं तो भोग चुकी। जो भाग्य में नही था, उसके लिए मैं रोती नहीं। पति महाराज के राज्य मे ईर्ष्या के पात्र थे। छोटे पदाधिकारी थे, पर महाराज की कृपादृष्टि थी। उसीके बल पर उन्होंने संचय नहीं किया। सीधे और भले आदमी थे। कहते थे, 'उपले ! ऐसे स्वामी से विश्वासघात करके मैं घूस नहीं लूगा। वेतन ही अपना सहारा बनेगा।' मैंने कह दिया था, 'स्वामी ! मैं धन की भूखी नहीं, ईमान की भूखी हूं।' उन्होंने इस बेटी को ब्याहा था अपने-आप। आज इस बिटिया का एक भाई है, मेरी कोख का ही जाया। बाल-बच्चेवाला युवक है। वह अंतःपुर के बाहर डचौढ़ी पर बैठा है। यह लड़की है, आप स्वयं

इससे पूछ लें।"

अम्बा ने कहा, "हां री नीले! यही बात है? उसका जो दोषारोपण है वह झूठ है?"

नीला ने कहा, "महारानी! वनदेवता मुझे मार डालें। आप मेरे भैया से पूछ लें। मैंने तभी उन्हें सूचना दे दी थी।"

"सुना श्यामला?" मां ने दासी आत्रेयिका से कहा, "अब इसमें क्या प्रमाण है? भाई और मां तो बहिन-बेटी की तरफ बोलेंगे ही।"

"महारानी," श्यामला ने कहा, "यह नीला बड़ी सीधी लड़की है। यह सच है कि काम में स्त्री को आगे-पीछे कुछ नहीं सूझता; यह भी सच है कि छल और छद्म में उससे कोई नहीं जीत सकता, पर उपला न कहे, नीला के लिए मैं कह सकती हूं। मैंने तो इसके उस पति को देखा है। बड़ा नीच है!"

"नहीं, मौसी।" नीला ने कहा, "वे नीच काहे को हैं। नीच तो वह दारी है, जिसने उनपर जादू कर रखा है।"

मैं सुनती रही। और नीला का यह व्यवहार मुझे विचित्र लगा कि वह पति की ओर फिर भी बोल रही थी। बात यों थी, जो बातों में मुझे पता चली। नीला पति के साथ रहती थी। पति की किसी अन्य स्त्री से मित्रता हो गई। उसने नीला को छोड़ दिया। तब नीला भूखी मरने लगी। उस समय नीला के भाई ने न्यायाधिकरण में वादी बनाकर नीला को खड़ा किया और महारानी ने भी न्यायकर्ता से कहलवाया। पति को अपनी धर्मपत्नी के भरण-पोषण के लिए धन देना पड़ा प्रतिमास। नीला अपने बच्चे के साथ वहीं एक घर लेकर दिन काटने लगी। बच्चे को पति ने ले जाना चाहा, क्योंकि स्त्री तो क्षेत्र ही ठहरी। परंतु एक तो वह दूसरी स्त्री नहीं चाहती थी बच्चे को, दूसरे नीला देना नहीं चाहती थी। मां का अधिकार बच्चे पर तब तक माना भी जाता है, जब तक वह जवान न हो जाए; तो बच्चा उसीके पास रहा। इतनी तो थी पुरानी कहानी। अब नीला यह कहती थी कि तीन महीने पहले उसका पति सुधरकर आ गया था उस कुलटा को छोड़कर। नित्य सूरज डूबे, राज्यकर्मचारी तो है ही, काम समाप्त करके आता और सवेरे चला जाता। उसके इस छिपे रहने के बारे में नीला ने सन्देह करके पूछा भी तो उसने

कहा कि वह कुलटा अभी उसके पीछे पड़ी है, इसलिए उससे बचने का और कोई उपाय नहीं है। नीला सब दुःख भूल गई कि किसी तरह पति तो हाथ आया। भाई और मां को जरूर एक नाई के जरिये खबर भिजवाई। नाई था मायके का। किसी काम से नीला के नगर में गया था। दो महीने हो गए तो एक दिन नीला जब कुएं से पानी भरकर घर पहुंची, उसने देखा उसके आभूषण इत्यादि सब गायब थे। वह चोरी स्वयं उसके पति ने की थी। इस दौरान में नीला गर्भवती हो गई थी और पति, अंत में पता चला, उसी कुलटा के घर था। अब वह धन नहीं देता था। नीला न्यायाधिकरण में फिर गई परंतु पति ने कहा कि वह इस व्यभिचारिणी को कुछ नहीं दे सकता। यह गर्भवती है और किसी जार से इसकी मित्रता है, जो इसका पति बनकर रहता है। साक्षियों से पूछा गया तो लोगों ने कहा कि नीला के पास अंधेरे-अंधेरे ही कोई आता-जाता तो था, पर कौन था यह पता नहीं चला। इधर के साक्षियों ने बताया कि नीला का पति बराबर कुलटा के पास रहता था, वह कहीं उसे छोड़कर नहीं गया। न्यायकर्ता ने नीला के पति को मुक्त कर दिया। अब वह नीला को कोई खर्चा नहीं देगा और नीला अब व्यभिचारिणी भी प्रमाणित हो गई। क्या करना चाहिए, यही बड़ी समस्या अटक गई थी। ऐसी बदनाम नीला को अब नीला की मामी अपने घर में पनाह देने को तैयार नहीं थी, क्योंकि उसमें हेठी होती थी। नीला कहां जाए, क्या करे? अब वह यह चाहती थी, कि पतिगृह में दासी के रूप में रखवा दी जाए तो कम से कम अपने बच्चे और होनेवाले बच्चे को खाना तो मिल जाए, क्योंकि कैसा ही हो, आखिर तो वह बाप है इन बच्चों का! मगर वह कुलटा तो हाथ नहीं रखने देती।

अरिता ने सुना और कहा, "कैसे तो घुस जा तू वहीं नीला! स्त्री का तो ठिकाना पति ही है। द्वार पर जाकर पड़ जा—भूखी-प्यासी। उस कुलटा के पांव पकड़ ले।"[1]

---

1. उस युग में किसी भी अवस्था में यदि पुरुष स्त्री को भोजन-वस्त्र दे देता था तो स्त्री अलग से भरण-पोषण नहीं पा सकती थी; पर किसी भी तरह नहीं देता था, तो उसे न्यायालय दिलवाता था—कौटिल्य ने इसे प्रकट किया है। स्त्री नपुंसक पति का भी त्याग कर सकती थी। यदि पति उसे नहीं छोड़ना चाहता था तो उसे स्त्री को नियोग से संतान उत्पन्न कराने की आज्ञा देनी पड़ती थी।

उसके रूप में।"

अम्मा ने कहा, "हाँ री नीला! यही बात है? उसका जो दीवानापन है वह रूप है?"

नीला ने कहा, "महारानी! वनदेवता मुझे मार डालें। आप मेरे भैया से पूछ लें। मैंने कभी उन्हें कुछ कहा है ही नहीं।"

"सुना श्यामला?" मां ने दासी चारुलिका से कहा, "अब इसमें क्या प्रमाण है? आई और मां को बहिन-बेटी की तरह बोलती हो।"

"महारानी," श्यामला ने कहा, "यह नीला बड़ी सीधी लड़की है। यह सच है कि काम में इसे आगे-पीछे कुछ नहीं सूझता; यह भी सच है कि छल और छद्म में इससे कोई नहीं जीत सकता, पर उसका न कहे, नीला के लिए मैं कह सकती हूं। मैंने तो इसके उस पति को देखा है। बड़ा नीच है!"

"नहीं, मौसी।" नीला ने कहा, "वे नीच काहे को हैं। नीच तो वह दासी है, जिसने उनपर जादू कर रखा है।"

मैं सुनती रही। और नीला का यह व्यवहार मुझे विचित्र लगा कि वह पति की ओर फिर भी बोल रही थी। बात यों थी, जो बातों में मुझे पता चली। नीला पति के साथ रहती थी। पति की किसी अन्य स्त्री से मित्रता हो गई। उसने नीला को छोड़ दिया। तब नीला भूखी मरने लगी। उस समय नीला के भाई ने न्याया-धिकरण में साक्षी बनाकर नीला को खड़ा किया और महारानी ने भी न्यायकर्ता से कहलवाया। पति को अपनी धर्मपत्नी के भरण-पोषण के लिए धन देना पड़ा प्रतिमास। नीला अपने बच्चे के साथ यहीं एक घर लेकर दिन काटने लगी। बच्चे को पति ने ले जाना चाहा, क्योंकि स्त्री तो क्षेत्र ही ठहरी। परंतु एक तो वह दूसरी स्त्री नहीं चाहती थी बच्चे को, दूसरे नीला देना नहीं चाहती थी। मां का अधिकार बच्चे पर तब तक माना भी जाता है, जब तक वह जवान न हो जाए; तो बच्चा उसीके पास रहा। इतनी तो थी पुरानी कहानी। अब नीला यह कहती थी कि तीन महीने पहले उसका पति सुधरकर आ गया था उस कुलटा को छोड़कर। नित्य सूरज डूबे, राजमार्गगामी तो है ही, काम समाप्त करके आता और सवेरे चला जाता। उसके इस दिन रहने के बारे में नीला ने सन्देह करके पूछा भी तो उसने

कहा कि वह कुलटा अभी उसके पीछे पड़ी है, इसलिए उससे बचने का और कोई उपाय नहीं है। नीला सब दुःख भूल गई कि किसी तरह पति तो हाथ आया। भाई और मां को जरूर एक नाई के जरिये खबर भिजवाई। नाई था मायके का। किसी काम से नीला के नगर में गया था। दो महीने हो गए तो एक दिन नीला जब कुएं से पानी भरकर घर पहुंची, उसने देखा उसके आभूषण इत्यादि सब गायब थे। वह चोरी स्वयं उसके पति ने की थी। इस दौरान में नीला गर्भवती हो गई थी और पति, अंत में पता चला, उसी कुलटा के घर था। अब वह धन नहीं देता था। नीला न्यायाधिकरण में फिर गई परंतु पति ने कहा कि वह इस व्यभिचारिणी को कुछ नहीं दे सकता। यह गर्भवती है और किसी जार से इसकी मित्रता है, जो इसका पति बनकर रहता है। साक्षियों से पूछा गया तो लोगों ने कहा कि नीला के पास अंधेरे-अंधेरे ही कोई आता-जाता तो था, पर कौन था यह पता नहीं चला। इधर के साक्षियों ने बताया कि नीला का पति बराबर कुलटा के पास रहता था, वह कहीं उसे छोड़कर नहीं गया। न्यायकर्ता ने नीला के पति को मुक्त कर दिया। अब वह नीला को कोई खर्चा नहीं देगा और नीला अब व्यभिचारिणी भी प्रमाणित हो गई। क्या करना चाहिए, यही बड़ी समस्या अटक गई थी। ऐसी बदनाम नीला को अब नीला की भाभी अपने घर में पनाह देने को तैयार नहीं थी, क्योंकि उसमें हेठी होती थी। नीला कहां जाए, क्या करे? अब वह यह चाहती थी, कि पतिगृह में दासी के रूप में रखवा दी जाए तो कम से कम अपने बच्चे और होनेवाले बच्चे को खाना तो मिल जाए, क्योंकि कैसा ही हो, आखिर तो वह बाप है इन बच्चों का! मगर वह कुलटा तो हाथ नहीं रखने देती।

जरिता ने सुना और कहा, "कैसे भी घुस जा तू वहीं नीला! स्त्री का तो ठिकाना पति ही है। द्वार पर जाकर पड़ जा—भूखी-प्यासी। उस कुलटा के पांव पकड़ ले।"[1]

---

[1] उस काल में किसी भी अवस्था में यदि पुरुष स्त्री को भोजन-वस्त्र दे देता था तो स्त्री अलग पोषण नहीं पा सकती थी, पर किसी भी तरह नहीं देता था, तो उसे न्यायालय [illegible] ने इसे प्रकट किया है। स्त्री नपुंसक पति का भी त्याग कर सकती पति उसे नहीं छोड़ना चाहता था तो उसे स्त्री को नियोग से संतान उत्पन्न कराने देनी पड़ती थी।

अम्व उठ खड़ी हुई। नीला ने उनके पांव पकड़ लिए और रोते हुए कहा, "देवी! वस यही एक भीख मांगती हूं। कुछ मेरे पति को डरा-धमकवा दीजिए कि वह मुझे पड़ा रहने की आज्ञा दे दे।"

श्यामला ने कहा, "जा-जा! यह काम मैं ही करा दूंगी। महारानी को इसके लिए कष्ट क्यों देती है। मैं ही आर्य कंचुक से कह दूंगी। वे कहलवा देंगे। अरे, इनकी भौं तेरी तरफ सीधी रहे तो सव तेरे लिए मंगलमय है। अव देख, मैं उस कुलटा को कैसा रंग दिखाती हूं, जो तू मालकिन वनकर उसपर राज न करे!"

"पर", नीला ने वैठकर आंसू पोंछते हुए कहा, "मेरा कौन साक्षी है? मैं तो मां वननेवाली हूं।"

"हां, हां, तू मां वन! मैं कव रोकती हूं?"

मां भीतर उठ गई। पीछे-पीछे चली गई जरिता।

श्यामला कहती रही, "देख! तू न्यायाधिकरण में फिर वाद ले जा। तेरी ओर से आर्य कंचुक के आदमियों से साक्षी दिलवाऊंगी। देख फिर क्या होता है!"

वे लोग श्यामला को प्रणाम करके उठे, और मेरे पैरों पर सवने सिर रखकर दण्डवत की और चले गए।

लगभग एक महीने वाद वे लोग फिर आए। नीला प्रसन्न थी। उसे फिर भरण-पोषण मिल गया था और अवकी वार उसके पति पर दण्ड और रख दिया गया था, जिसे तुरंत चुकाने को उसे कुलटा के आभूषण वेचने पड़े थे। इससे क्रुद्ध होकर कुलटा उसे छोड़ गई थी और वह अकेला रह गया था। अव पति अपनी नीला को लेकर फिर से घर वसाना चाहता था, परन्तु नीला का भाई उसे अलग रहने को कह रहा था। न्याय नीला के पति की ओर था। वह अपनी पत्नी को रखना चाहता था अतः रख सकता था। स्त्री को अव इस अवस्था में अलग रहने का कोई अधिकार नहीं था। नीला की मां नीला के पतिगृह में जाकर वसने के ही पक्ष में थी। कहती थी, "अव तो अवसर आया है कि जाकर उसे किसी तरह अपनी मुट्ठी में करे। स्त्री है। पति से अकड़कर कैसे रह सकती है? अव तो वह खलेआम वुला रहा है। फिर छोड़ेगा तो न्याय फिर भी नीला की ओर रहेगा।" का भाई कहता था कि किसी तरह भरण-पोषण मिले तो वहिन स्वतं

रहे। पर न्याय कैसे बदले! नीला की भाभी की इच्छा थी कि ननद अपने घ
जाकर बसे और रोज-रोज का कलेश बन्द हो। अपने-अपने घर स्त्रियां रहें।
ठीक। ननद का बार-बार आना भी अच्छा नहीं। नीला की मां कहती थी कि वे
अपनी गुजरान नहीं भली। उनके भी अपने बच्चे हैं। तुम्हारे भी हैं। मैं उन
बच्चों को भूखा देख नहीं सकती, और तुम्हारे घर को उनके लिए लुटाना भी न
चाहती। बात सब थी नीला की।

"तू क्या चाहती है?" अम्ब ने नीला से पूछा।

थोड़ी देर तक इधर-उधर देखती हुई वह हिचकिचाती रही और फिर मा
पांव पकड़कर रोती हुई लेट गई। और बोली, "मैं क्या चाहूंगी देवी! जैसा
को करते देखा, वही तो करूंगी। पति ही तो स्त्री का सब कुछ है।"

जब वे बाहर गईं नीला का भाई अकेला गुस्सा हो रहा था। बाकी स्त्रि
एक ओर थीं।

नीला पति के पास चली गई थी। यही धर्म था, यही ठीक हुआ था।

मैंने मा से कहा, "अम्ब! नीला फिर चली गई?"

"हां बेटी!" अम्ब ने कहा।

"क्यों अम्ब?"

"न जाती तो कहां जाती बेचारी।"

"मां! क्या वह हमारे पास नहीं रह सकती थी?"

"बिटिया! लोग क्या कहते? किसीके परिवार की बातों में हमें बोलने
मतलब ही क्या?"

"स्त्री तो है न हम? फिर स्त्री का पक्ष क्यों न लें?"

मां ने मुझे देखा क्षण-भर। फिर कहा, "हां बेटी, लेकिन पक्ष लेने से क्या
जाता? नीला क्या यहां रह जाती?"

"क्यों नहीं रहती! यहां उसे अच्छा खाना, अच्छे कपड़े मिलते। रथ
घूमती!"

मां ने जरिता और दयाभवा की ओर देखकर हंसकर कहा, "बच्ची!"

जरिता ने कहा, "और क्या देवी! बिटिया क्या जाने कि स्त्री के

क्या होता है।"

श्यामला बोली, "बिटिया ! स्त्री को खाना-कपड़ा और सवारी ही काफी हो जाती तो लोक में व्याह क्यों होता ? काहे को उसे पराये घर जाकर रहने पर भी वह अपना ही घर मालूम देता !"

मां चली गई पिता के प्रासाद की ओर। मेरा चित्रकला सीखने का समय हो चला था। मैं चली गई चतुःशाल को पार करके चित्रशाला की ओर। मंगला मिली, दासीपुत्री। आचार्य करवीर मुझे चित्र बनाना सिखाते थे। उनका हाथ ऐसा सधा हुआ था कि खड़ी कूंची से जब रंग की रेखा खींचते तब पूरी रेखा ऐसी एक-सी चली जाती कि देखकर मैं दंग रह जाती। रेखा में न कोई अधिक मोटापन, न पतलापन्। दो दासियां तो उनके लिए रंग तैयार करने में लगी रहतीं। रंग के काले थे। हमारे सामने तो बड़े मीठे रहते, पर वैसे बड़े गर्वीले थे, किसीसे सीधे मुंह बात नहीं करते थे। मैं उनके प्रति, उनकी कला के प्रति आदर होने के कारण, बहुत विनयशील बनकर रहती थी।

उन्होंने मुझे देखा तो कहा, "आर्ये राजकन्ये ! आपने पटी को पूरा कर लिया ?"

मैं बैठ गई और कार्य प्रारम्भ हो गया।

मंगला भी मेरे पास बैठी पंखा करने लगी। आचार्य बोले, "राजकन्ये ! आज तुमको एक नाटक सुनाऊंगा।"

"आर्य ने रचा है ?"

"नहीं कुमारी, मेरे एक शिष्य ने। वह चाहता है कि इसका अभिनय हो। नगर की रंगशाला में गया था, परंतु नये कवि को कौन पूछता है। उसने कहा मुझसे। मैंने कहा,'मुझे दे। मैं इसे राजकुल को सुनाने की चेष्टा करूंगा। यदि वहां खेल लिया गया तो तेरा यह दारिद्र्य भी दूर हो जाएगा।' विचारा पारिवारिक जीवन में बड़ा दुखी है।"

"क्यों गुरुदेव ! क्या कष्ट है उसे ?"

"कष्ट !" आचार्य ने कहा, "राजकन्ये ! परिवार ही कष्ट है।"

मैंने कहा, "गुरुदेव ! उसके मां नहीं है ?"

"माँ सदा नहीं रहती राजकन्ये! उसकी पत्नी है। उसे बहुत तंग करती है।"

"क्यों आर्य?"

"स्वभाव है। इसका किसीके पास क्या इलाज है। कोई-कोई ऐसी भी होती है।"

"करती क्या है?"

"शृंगार!"

"शृंगार तो सब करती हैं!"

"हां राजकन्ये! शृंगार तो सब करती हैं, पर शृंगार कैसे होता है?"

"आभूषणों से, अंगराग से। और…"

"यह मैं नहीं पूछता कुमारी! उसके लिए किस चीज की जरूरत होती है?"

"वस्त्रों की।"

"अरे मुख्य बात नहीं समझती? धन की!"

"हां! धन तो है ही। धन के बिना कुछ भी कैसे हो सकेगा। तो धन का क्या है?"

आचार्य ने हंसकर कहा, "बालिके! धन का मूल्य तुम नहीं जान सकोगी। महाराज की कन्या हो न? किन्तु धन क्या लोक में सहज मिलता है? धन क्या सबके पास होता है?"

मैं समझी। पूछा, "तो क्या कवि दरिद्र है?"

"हां कुमारी! कवि की आमदनी ही क्या? मां-बाप मर गए हैं। सब से दो भाई और चार बहिनों का लालन-पालन उसीपर आ पड़ा है। पूरी गृहस्थी है बेचारे एक कवि की जान पर! परन्तु स्त्री है न उसकी, यह नहीं कि सब हिल-मिलकर रहें, निरन्तर उससे झगड़ा किया करती है।"

"क्यों?"

"कहती है मेरे लिए गहने ला। गहने ला। कहां से लाए बिचारा? शृंगार-प्रियता भी स्त्री में किसलिए? स्त्री का वह शृंगार तो अच्छा जो पति के [illegible] हो, परन्तु जिस स्त्री का शृंगार पति के लिए मर्मान्तक वेदना बन [illegible]
जीवन ही व्यर्थ है। और हालत यह है कि पूरा परिवार है, परंतु

रिक्त उसे कोई दूसरा फूटी आंखों नहीं सुहाता। पति से झगड़ती रहती है, 'मुझे कोई सुख नहीं, मुझे कोई स्वतंत्रता नहीं, चैन नहीं। यह सारी सेना मेरे ही सिर आ पड़ी है!' कवि कहता है, 'देख! मेरा काम तो तू जानती है कितना कठिन है? कविता लिखना। इसके लिए कितनी अधिक शांति की आवश्यकता है!' तो जानती हो क्या कहती है? 'अव्वल तो यह साहित्य का कार्य ही व्यर्थ है, जिसमें धन नहीं आता। औरों को देखो घरों में किस तरह रहते हैं। हमारे पास क्या है? हम क्यों दीन बनकर रहें! फिर अगर तुम्हें यही करना है तो मुझे भी अपने साथ लो। मुझे तुम ऐसे क्यों रखते हो परिवार में, सबके साथ एक डंडे से हांककर। मैं तो तुम्हारे जीवन के साथ हूं। मैं मदद करूंगी तुम्हारी। मुझे धन की भूखी न समझना। कहे देती हूं।'"

मैंने कहा, "फिर यह तो उलटी बात हुई!"

आचार्य ने कहा, "यही तो जीवन की विचित्रता है जिसके बारे में मैं सोचा करता हूं। क्या है यह परिवार! किसका उत्तरदायित्व कहां तक ठीक है? कवि है बेचारा। मेरा तो शिष्य है। मुझसे कुछ छिपाता नहीं। कहता था, 'गुरुदेव! रिवार के सब लोगों से वह वंचना करती है। किसीको घी नहीं देती, खुद खा जाती है। सबका तिरस्कार करती है।' स्त्री जब हठ करती है राजकन्ये! तब ब्रह्मा भी उसे ठीक नहीं कर सकते। और जब ज़रा कवि उसे राह पर लाने को समझाता है, तो कहती है, 'तुम मेरा अपमान करते हो क्योंकि तुम मुझे निस्सहाय समझते हो, क्योंकि मैं घर छोड़कर तुम्हारे घर आई हूं। इससे तो अच्छा है कि मैं मर ही जाऊं!' वह बेचारा मुझसे पूछता था, 'अब ऐसे में करूं तो क्या करूं? भाई-बहिनों को निकाल दूं? क्या मेरा उत्तरदायित्व केवल इस स्त्री के ही प्रति है या औरों के भी! घर में कभी भाई-बहिनों में हंसता-बैठता हूं, तो तुरंत अलग मुंह ढांककर पड़ रहती है। किसीकी प्रशंसा करता हूं तो बाद में रोकर कहती है कि मेरा तो जीवन ही नष्ट हो गया। मुझे क्या पता था कि पति ही मेरी ओर से ऐसे उदासीन हो जाएंगे!' अब वह कवि इतना ऊब गया है जीवन से कि उसे किसीसे मोह ही नहीं है। वैसे कुछ नहीं कहता परंतु मुझे डर है कि वह कहीं वैराग्य न ले ले। राजकन्ये! स्त्री का चरित्र बड़ा विचित्र है! किसी प्रकार महाराज को

यह नाटक दिया
महाराज से कहकर
यादो। धन घर भेजत,
मुझे उस कवि-पत्ने,
मैंने कहा, "आर्य ! ने
वे नाटक सुनाने लगे। न
के उपरांत जरासंध प्रवेश करके
रखनेवाला कोई वीर !' फिर एक
श्लोक के शब्द याद नहीं, तात्पर्य याद

ूँ मिलाकर चकड़-चकड़ करने लगे। पुरुष !
लगे। बिना डर के कभी प्रीत होती
सो कहती हूं कि मारनेवाला
िनाता

'देखो ! सिंधु की लहरें पवन यों ... मेरी पगध्वनि से विक्षुब्ध होकर भागते समय उन्हें भी उ ... ान का संकेत कर रहा है। सूर्य अस्त और उदय की बेला में इतना ... क्यों दीखता है, जानते हो ? क्योंकि उसे दोनों ओर मेरे शत्रुओं के रक्त में से निकलना पड़ता है अतः वह मन ही मन भयभीत हुआ करता है।'

मैंने कहा, "आर्य ? कवि तो बड़ा कल्पनाशील है ?"

"हां राजकन्ये ! किंतु अवसर नहीं मिलता। घर आए पुरुष, स्त्री मीठी बातें करे, तो उसका मन दुगना हो। कमाकर लाता है पुरुष, लालन-पालन करता है, उसका अहसान नहीं जताता, तुम्हारे लिए सब कुछ करता है। और तुम उसे ठीक से खाना भी नहीं खिला सकतीं। अरे ! किसान तो उस बैल की भी इतनी देख-रेख करता है जो उसके खेत जोतता है ! और पुरुष है ही क्या ? कोल्हू के बैल की तरह आंखों पर पट्टी बांधे घूमता रहता है। किसलिए ? प्रेम और स्नेह के लिए, वात्सल्य के लिए। पुरुष स्त्री से विवाह करके न स्त्री पर अहसान करता है, न स्त्री ही पुरुष से विवाह करके पुरुष पर अहसान करती है। परन्तु स्त्री जब तंग करती है, तब पुरुष घबरा जाता है, और क्या करता है जानती हो ? घर छोड़कर भाग जाता है। ये जो कई लोग भागते दीख रहे हैं, सो किसलिए ? घरों में शांति नहीं है। या तो पुरुष और स्त्री दोनों अलग-अलग रहें, परन्तु स्त्री पुरुष प ... भी हो, और फिर भी उसके सुख को सर्वोपरि न रखे, तो लोक नहीं च

, मैं। वोलो ! यह काम करोगी न ?"
रिक्त उसे कोई दूसरा फूटी आंखों नहीं स...ता हूं। आप चाहें तो मैं दे दूं धन। अभी मां से
कोई सुख नहीं, मुझे कोई स्वतंत्र...ुरंत दे देंगी !"
आ पड़ी है !' कवि कहत...तुम्हारा मन बहुत अच्छा है। असल में माता-पिता का मन
कविता लिखना, बच्चे भी अच्छे होते हैं। मैंने तो राजकुल में कई लोग देखे हैं। अहं
हो क्या! कि मारे वे किसीको आदमी नहीं समझते। यहां मुझे कभी ऐसा लगता ही नहीं
कि मैं किसी डरावनी जगह वैठा हूं। विटिया ! लोग राजकुल को भयानक समझ
कर डरते हैं। परन्तु हमारे महाराज ! वे तो देवता हैं ! अपने को जो प्रजा का
सेवक कहे, वह क्या साधारण हृदय हो सकता है ? इसीलिए कहता हूं कि महाराज
से दान दिलाओ, अन्यथा महाराज और महारानी तो नहीं, पर और लोग कहेंगे कि
वुड्ढा करवीर वच्ची राजकन्या को वहकाकर धन ले गया। विटिया ! राजकुल के
लोगों के पास कोई आने-जाने लगे तो लोग उससे मन ही मन जलते हैं। राजकुल
में जितने सुख हैं विटिया ! उतने ही दुःख भी हैं।"

आचार्य की वातें सुनकर मुझे अपने वारे में आश्वासन-सा हुआ।

मैंने कहा, "आर्य ! तो मैं कल मिलूंगी पिता से।"

आचार्य जव चले गए तव मंगला ने कहा, "स्वामिनी ! वह कवि मुझे मूर्ख लगता है।"

मैंने कहा, "क्यों ?"

"उस स्त्री में दो चपत क्यों नहीं देता !"

"चपत ? स्त्री में ?"

मैंने कभी पति को स्त्री पर हाथ उठाते नहीं देखा था, सुना ज़रूर था। पिता कहते थे कि स्त्री को कभी मारना नहीं चाहिए। मैंने कहा, "नहीं मंगला ! यह काम अनार्यों का है।"

"सव आर्यों का है। कुमारी ! जव कोई कहे से न माने तव समझ लेना चाहिए कि उसकी पीठ में सुरसुरी हो रही है। डंडे से ठीक हो जाएगी।"

मैं हंस पड़ी। मंगला ने कहा, "वह पति क्या जो स्त्री को भी अपने काबू में न रख सके। मैं तो ऐसा पति देखना भी न चाहूंगी। वह पुरुष क्या जिसके सामने

स्त्री की इतनी हिम्मत हो जाए कि आंखें मिलाकर चकड़-चकड़ करने लगे। पुरुष! पुरुष माने स्वामी! स्वामी तो वह जिससे डर लगे। बिना डर के कभी प्रीत होती है? बच्चा भी मां-बाप से तभी प्रीत करता है। मैं तो कहती हूं कि मारनेवाला हाथ ही रक्षा भी करता है।"

"तूने यह कहां से सीखा री?"

"सीखती कहां से? अंतःपुर में बातें करती हैं सेविकाएं। सच! मिनमिनाता पति तो स्त्रैण होता है। वैसा पुरुष क्या सम्मान पा सकता है? कभी नहीं। दास और पति में अंतर ही क्या है। कुमारी! इस कवि को समझाने को कहें न आचार्य से!"

मैंने कहा, "आचार्य इतने पढ़े-लिखे विद्वान हैं, मैं उनसे क्या कहूंगी?"

"क्या पढ़े-लिखे हैं जब इतना भी नहीं समझते!"

मैंने कहा, "अच्छा! चल महारानी से पूछें।"

"चलो अभी चलें।"

हम दोनों माता के पास पहुंचे। वे उस समय उद्यान में बैठी हिरनियों को अपने हाथ से दाना खिला रही थीं। हंसती हुई जरिता और श्यामला से बातें कर रही थीं।

मुझे देख मां ने कहा, "आ गई बिटिया! बैठ जा।"

मैं पास पड़ी स्फटिक की शिला पर बैठ गई।

मंगला वहीं नीचे बैठी और बोली, "महारानी! आज मैं एक बात पूछने आई हूं।"

"पूछ?" मां ने कहा।

मंगला ने कहा, "अगर कोई पत्नी पुरुष को तंग करे तो उस पति का क्या करना चाहिए?"

जरिता और श्यामला चौंकीं। पूछा जरिता ने, "कैसे तंग करे?"

"परिवार में सब हों और स्त्री चाहे कि पति सबको छोड़ दे। और पति ही घर में अकेला कमानेवाला हो। उसपर ही सब निर्भर हों। वही बहिनों की शादी करनेवाला हो।"

महारानी ने सोचा और कहा, "तू बता वसु ! लगता है दोनों पहले से इस-पर बात करके आई हो।"

जरिता ने कहा, "देवी ! मंगला से भी पूछें।"

मंगला ने उत्तर दिया, "मेरा तो सीधा उत्तर है। ऐसी स्त्री को तो पुरुष कुचल दे वही ठीक है।"

"कैसे कुचल दे ?" श्यामला ने टोका। "सीधा-सादा पुरुष है। स्त्री छल-फरेब करती है। रोती है, मरने का डर दिखाती है, तो ऐसे में वह क्या करे ?"

मुझे श्यामला की विचार-शक्ति पर आश्चर्य हुआ।

मां ने कहा, "तू बोल न बिटिया।"

मैंने कहा, "मैं क्या जानूं मां ! मैं तो देखती हूं कि विवाह में प्रायः दुःख होता है; स्त्री कुछ चाहती है, पुरुष कुछ चाहता है और झगड़ा होता है। स्त्री अपना-अपना ही चाहती है सब कुछ। पर पुरुष के ऊपर और भी उत्तरदायित्व होता है। वह कैसे छोड़ दे सबको ! बहिनों की देख-भाल वह नहीं करेगा तो कौन करेगा ? स्त्री को स्त्री का तो पक्ष लेना ही चाहिए। बहिनें कौन हैं ? स्त्रियां ही तो हैं ! अब इस स्त्री से घबराकर पुरुष अपनी बहिनों को जल्दी-जल्दी घर से निकालेगा और वे जहां जाएंगी, सोचेंगी कि अपनी मौज के लिए हमारी भाभी ने हमें निकल-वाया, तो हम अपनी ननदों को क्यों न निकलवाकर मौज करें। मां ! विवाह ही बुरा है !"

मां हंस पड़ीं। कहा, "सुनती है श्यामले ! क्या कहती है बिटिया !"

"ठीक कहती हूं मां।" मैंने फिर कहा, "सारा परिवार है। इसमें पुरुष कमाकर लाता है। वह अहसान करता है। पर वह अहसान कहता नहीं।"

"शासन नहीं करता ?" जरिता ने पूछा।

"क्या शासन करता है ! कमाता है तो कमाने की वह मुसीबत जानता है। तभी कायदे से खर्च करने की बात करता है। उसमें हर कोई मनमाना खर्च करे तो वह कहां से लाए। अपने मन का खर्चा करना है तो स्त्री खुद कमाए। यह तो बड़ी लज्जा की बात है कि पत्नी उस धन को अपना समझे और गृहस्वामिनी बने। सबपर हुकूमत करे। बाकी लोगों को न दे। है न मां ?"

जरिता ने कहा,"बिटिया ! बहिनों का क्या ! ब्याह हो जाएगा, अपने-अपने पति के साथ चली जाएंगी। तब प्रगल में पति का साथी कौन है ?"

"तो फिर परिवार कहां रहा ? मिलकर रहना तो तभी संभव होगा, जब हर-एक अपनी मनमानी न करे, बल्कि यह देखे कि दूसरे को भी मुझसे लाभ हो रहा है। ऐसा नहीं करती, तभी तो स्त्री को लोग बुरा कहते हैं।"

मगला ने कहा, "तब तो जो मैंने कहा, वही ठीक है। ऐसे में पुरुष और करे भी क्या ? स्त्री को दबा दे। जहां से गड़बड़ी हो रही हो, वहीं दबा दे।"

मां ने लंबी सांस खींचकर कहा, "बच्चियो ! परिवार की समस्या सचमुच बड़ी अजीब है। तभी कहा गया है धर्मशास्त्र में कि स्त्री को स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि स्त्री की बुद्धि चंचल और विनाशकारिणी होती है। स्त्री बुरी होती है।"

"तो मां !" मैंने कहा, "स्त्री को ज्ञान क्यों न दिया जाए ? उसे अच्छा क्यों न बनाया जाए ? उसे व्यापक दृष्टि क्यों न दी जाए ?"

श्यामला ने सिर हिलाया और कहा, "यह तो ठीक है राजकुमारी ! परन्तु क्या पुरुष इतना ही अच्छा है ? अच्छा तो दोनों को होना है। दोनों ही अच्छे होते हैं, और दोनों ही बुरे भी होते हैं।"

जरिता ने ठीक किया,"पर श्यामले ! अच्छे कम और बुरे ही दोनों में अधिक होते हैं।"

मां ने कहा, "स्त्री में सबसे बड़ा दोष होता है कि वह दूसरे के भाग्य पर जीवित रहकर अपना गर्व प्रकट करती है, तभी उसकी नीचता प्रसरती है। स्त्री मूलतः स्त्री की शत्रु होती है।"

मां की बात ने श्यामला को कचोटा। बोली, "देवी ! आप ठीक कहती हैं, पर पुरुष भी तो स्त्री को बहुत दबाता है। मैं बताऊं। एक थी मेरी परिचित उशिरी। बड़ी पतिव्रता। परन्तु उसके पति को न जाने क्यों उसपर अविश्वास हो गया। बिचारी घुट-घुटकर मर गई। ऐसी ग्लानि हुई उसे। मरते ही उसके, वह झट दूसरी स्त्री ले आया। उसकी मां ने कहा, 'मेरे बेटे को क्या कमी [illegible]का क्या ? पाव की जूती ठहरी। वह गई, यह आई। हाथ में धन चाहि[illegible]

अपनी लड़की लिए द्वार पर खड़े रहेंगे। वह तो मैं भली हूं कि अपने घर में एक से अधिक वहू नहीं रखती क्योंकि सौतों का घर नरक होता है।' "

श्यामला ने चारों तरफ देखा और कहा, "कहो देवी ! यह है स्त्री !"

मैंने पूछा, "कौन-सी स्त्री ! यहां तो मां भी स्त्री है। उसका पुत्र तो उसके कहने में है। मां ने पाला है, तो वह इस अहसान को मानता है, विद्रोह नहीं करता। वह तो सीधा हुआ। बुराई की जड़ बुढ़िया है !"

जरिता ने हंसकर कहा, "सुना महारानी ! घूम-फिरकर नई पीढ़ी ने क्या कहा ? बुराई की जड़ बुढ़िया है। बुढ़िया ! खूब पकड़ी बिटिया ने !"

सब हंस पड़ीं।

जरिता ने ही फिर कहा, "राजा मागंध था न ? बड़ा विलासी था। बलपूर्वक लड़कियां पकड़ ले जाता था। एक बार एक लड़की किसीकी वाग्दत्ता हो चुकी थी। ले गया पकड़कर ! किसीने कुछ नहीं कहा। वृद्ध पुरोहित ने कहा, 'स्त्री का क्या है ? क्षत्रिय-धर्म है स्त्री का अपहरण। स्त्री भोग्य है। जिसमें बल होगा, वही तो उसे रखेगा।' लड़की के प्रेमी ने विद्रोह किया। राजा मागंध ने उसे सूली दे दी। तब लड़की छत से कूदकर मर गई। बताओ। स्त्री क्या प्रेम नहीं कर सकती ? स्त्री की एक बुराई तो सब देखते हैं। पुरुष की हज़ार बुराइयां छिपी रह जाती हैं। लोग कहते हैं। अरे वह तो राजा था। समर्थ था। समर्थ तो रानी भी होती है। वह क्या प्रजा के पुरुषों से ऐसा स्वेच्छाचार कर सकती है ?"

मां ने सिर हिलाकर कहा, "स्त्री समर्थ कहां होती है जरिते ! रानी समर्थ नहीं होती। रानी समर्थ होती है, क्योंकि राजा उसे समर्थ कहता है। रानी का अधिकार तो राजा के स्नेह के कारण चलता है। स्त्री गरीब हो, अमीर हो, वह होती भोग्य ही है।"

मां के स्वर में जाने क्या था कि श्यामला ने कहा, "देवी ! कैसी बात करती हो तुम ? आदर्श स्त्री ही तो रखती है। पुरुष बार-बार गिरता है, उसे कौन उठाता है ? देखो ! उच्च जाति के एक पुरुष ने एक वर्णसंकर स्त्री से सम्बंध जोड़ लिया। बात खुल गई तो प्रायश्चित्त करके बच गया। ऐसा ही एक उच्च वर्ण की स्त्री का हुआ। उसका निम्नवर्ण के एक पुरुष से सम्बंध हो गया। जातिच्युत कर

दी गई। अपमान अलग सहना पड़ा। परंतु उसने उसे नहीं छोड़ा। लोक की मर्यादा तो बदलती है। प्रेम और स्नेह की ज्योति स्त्री के कारण जीवित है। पुरुष उसे क्या जाने? यों अच्छे-बुरे सब जगह होते हैं। और असल बात तो यह है कि यह तो कर्मों का भोग है। इसमें क्या करेगा पुरुष, क्या करेगी स्त्री?"

मैंने कहा, "श्यामले! कुछ भी हो यह सब ठीक नहीं है। परिवार को फिर से बनना है। स्त्री को अपने ऊपर से यह कलंक धोना पड़ेगा।"

"तो क्या स्त्रियां भी अब श्रमणी बनेंगी?" उसने व्यंग्य से कहा।

मैंने पूछा, "जब कर्मजाल में स्त्री-पुरुष दोनों हैं तो स्त्री अपनी मुक्ति का पथ क्यों न पकड़े?"

जरिता ने धीरे से जाने क्या कहा कि मैं तो न सुन सकी परन्तु श्यामला हंस दी। मां ने मुस्कराकर उसको आंखों से डांटा और मगला, जो शायद समझी नहीं थी या सुन नहीं पाई थी, व्यर्थ ही दांत निकाले बैठी रही। उसके नेत्रों में शून्य दृष्टि थी जैसे कुछ पल्ले नहीं पड़ा था।

मां ने दाने बिखेर दिए और उठ खड़ी हुईं। उनके उठने पर हम सब भी खड़े हो गए।

दूसरे दिन मगला ने मुझसे एकांत में कहा, "राजकन्ये! चलोगी नहीं?"

"कहां?"

"वह नाटक लेकर महाराज के पास?"

"हां चलूंगी!"

"तो चलो।"

"पर इस समय वे अवकाश में कहां होंगे? पूजा के बाद आए होंगे। वे न्याय में लगे होंगे।"

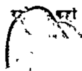
"तो चलो उन्हें ही सुनेंगे। इस समय कोई ऐसा काम भी तो नहीं है।"

"मुझे भूख लग रही है। अभी पुष्पवाटी करके आई हूं। तूने क्या किया?"

"वाह! मैंने तुम्हारे लिए देखो कितना अच्छा बटेर पकाया है।"

"ला दे जल्दी।"

मैंने खाया और कहा, "खाना तो स्त्री ही बनाती है। हमारे यहां



बना पाते हैं ऐसा ?"

उसने कहा, "राजकन्ये! लोक में सब स्त्री के हाथ का ही खाते हैं, केवल राज-प्रासादों को छोड़कर। स्त्री का शासन इसलिए चलता है कि वह खूब अच्छा खाना बनाती है। खाना तब अच्छा बनता है, जब बनानेवाले के मन में भी प्यार हो! तभी प्यार उपजता है। राजकन्ये! राजप्रासादों में अविश्वास भी तो अधिक है, क्योंकि खाने को प्यार की जगह धन बनाता है।"

मैं उठी और वस्त्र बदले। तब कहा, "चल मेरी गुरु!"

मंगला ने जूते बांध दिए और बोली, "विरजा कब आएगी ?"

"सुसराल गए ही कितने दिन हुए। पर कई दिन से सुनामा नहीं आई ?"

"वह तो पिता के साथ कहीं गई है।"

जब हम पिता के प्रासाद में पहुंचे, वे एक सिंहासन पर बैठे थे। सामने चौकी पर कार्यस्थ बैठा था। और दो-एक उच्च राजकर्मचारी थे, कुछ सेवक थे।

मैंने पिता को प्रणाम किया।

उन्होंने देखा और कहा, "आओ राजकन्ये! बैठो। हम इस समय न्यायाधि-ण में हैं।"

वे गंभीर थे। मैं मंगला को लेकर एक ओर बिछी चौकी पर बैठ गई। मंगला बैठी मेरे चरणों के पास। महाराज श्वेत उत्तरीय ओढ़े थे। शरीर पर रेशमी कंचुक था। मणिमालाएं गले में झूल रही थीं। कानों के रत्नकुण्डलों पर प्रकाश चमकता था। और पिता का मुख अत्यंत सौम्य था। आंखें ऐसी गहरी थीं जैसे आकाश। गोरे तो थे ही वे। मैं कहूंगी कि वे मां की तुलना में कहीं अधिक सुंदर थे। मां इतनी गोरी थीं, आंख-नाक की भी सुडौल थीं; पर मैंने जो छवि का गौरव और वैभव पिता में देखा, वह मुझे मां में नहीं मिल सका। पिता में जैसे एक स्वावलंबी पूर्णता थी, जो मां में नहीं थी। इसका यह मतलब नहीं कि मां मुझे अच्छी नहीं लगतीं। लगती हैं, मैं उन्हें बहुत प्यार करती हूं। पर पिता मुझे लोक में सबसे अच्छे लगते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनका मन बहुत सुंदर है।

उसी समय दण्डधर ने झुककर कहा, "देव! अपराधिनी प्रस्तुत है। और उसके विरुद्ध वाद लानेवाले भी आ गए हैं।"

"ले आओ।"

दण्डधर चला गया। कुछ ही देर में दो सेवक एक स्त्री को बांध लाए और एक ओर खड़ा कर दिया। दूसरी ओर सात आदमी थे। उनके साथ अनेक स्त्री-पुरुष और आ गए। ये दोनों ओर के संबंधी थे। कुछ कोलाहल हुआ तो दण्डधर ने दण्ड भूमि पर पटककर कहा, "शांत! शांत!"

सन्नाटा छा गया।

कार्यरत ने कहा, "देव! यही है वह अपराधिनी।"

महाराज को जैसे स्मरण नहीं आया। पूछा, "कौन? क्या किया है इसने।"

कार्यरत ने कहा, "देव! ये सात नागरिक हैं। सातों ने वाद प्रस्तुत किया है। साधारण न्यायाधिकरण में आने पर न्यायाध्यक्ष ने इस वाद को महाराज के पास भेज दिया है।"

"तब इसमें कोई विशेषता है?"

"नहीं देव! दोनों ओर से न्यायाध्यक्ष को घूस देने का प्रयत्न किया जाने लगा। न्यायाध्यक्ष ने लिया कुछ नहीं। तब दोनों पक्षों ने यह प्रचार किया कि अवश्य ही दूसरे से घूस ले ली गई होगी।"

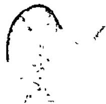
"वाद क्या है?"

"देव! वाद यह है। प्रस्तुत स्त्री, नाम शेफालिका, क्षत्रिय वसिष्ठ-गोत्रीय मकरंद की पत्नी है, दूसरी। पहली पत्नी के मर जाने पर आर्य मकरंद ने विवाह किया। आर्य मकरंद?"

"प्रस्तुत हूं।" एक व्यक्ति ने कहा।

"आर्य मकरंद," कार्यरत ने कहा, "इनके पास संपत्ति है। उत्तराधिकारी नहीं है। उन्होंने शेफालिका—वादिनी—को स्पष्ट समझाया कि यदि उनके पुत्र नहीं होगा तो वे फिर विवाह कर लेंगे। इसलिए शेफालिका ने जो किया, उसीसे प्रस्तुत सात नागरिक, आर्य जानुक, सागर, उपक, मरीचि, उग्रगुप्त, विरूढक और प्रबुद्धार्य, वादी बने हैं।"

महाराज ने कहा, "वादियों में से हरएक को कहना है, या एक ही कह सकता है।"



"महाराज की जय !" उपगुप्त ने कहा, "हमारा एक ही आवेदन है। हम नगर की वैश्य वीथि में रहते हैं। वहां हमारे गोपालन के लिए बने कच्चे घर हैं और उनपर फूंस के छप्पर हैं। व्यापार के समान रहते हैं जो घरों के पिछवाड़े प्रकोष्ठों में, अलिंदों में भी भरे जाते हैं। श्रेष्ठि जानुक कलावत्तू, सागर रेशमी कपड़ों, उपक काठ के सामानों, मरीचि गंधद्रव्य, विरुद्धक लिखने के रेशम और भूर्जपत्र, प्रबुद्धार्थ तैयार माल को इकट्ठा करते हैं, उन्हींका व्यापार करते हैं। मैं, उपगुप्त, सूती और ऊनी कपड़े रखता हूं। सात शनिवार बीते हैं और हम सातों के घर में एक-एक करके आग लगी है और हम कंगाल हो गए हैं।"

"आग एक-एक शनिवार को लगी ?" महाराज ने कहा, "क्यों? क्या तुम्हारा कोई शत्रु था ?"

"नहीं देव !"

"तो ? कैसे हुआ यह ?"

"देव ! अब यह तो यह स्त्री ही जाने।"

महाराज ने स्त्री की ओर देखा।

"यह लड़की ! " फिर कहा, "क्या नाम है तुम्हारा ?"

"देव ! शेफालिका।" उपगुप्त ने कहा, क्योंकि स्त्री ने उत्तर न देकर सिर झुका लिया। फिर उपगुप्त ने उसके पति इत्यादि का परिचय देकर कहा, "यह स्त्री मेरे यहां आग लगने पर भागती पकड़ी गई। मेरा यह दास—यहां प्रस्तुत है—वह खड़ा है देव ! गोपाल इसका नाम है, इसने इसे आग लगाते देखा। जब तक वह रोकता, हवा तेज होने के कारण आग फैल चली। तब उसने इसे पकड़ लिया। इससे पूर्व छः शनिवारों को जो आग लगी थी, वह भी इसीने लगाई होगी।"

"इसका कारण !" महाराज ने स्त्री से पूछा, "अकारण ही नागरिकों की संपत्ति का विनाश करके नगर की शांति तुमने किसलिए नष्ट की ? प्रतिवाद करो। यदि यह मान लिया जाए कि तुमने छहों के घरों में आग नहीं लगाई, तो सातवें के घर में तो लगाई ही। आग लगाना एक भयानक काम है। घर में पशु, बच्चे, बूढ़े, स्त्रियां सब होते हैं। एक व्यक्ति अत्यंत परिश्रम से कमाता है और उस सबके अकारण और आकिस्मक विनाश से वह कहीं का नहीं रहता अतः आग लगाने में

तुम्हें कोई कारण अवश्य होगा। बोलो!"

स्त्री ने फटी-फटी आँखों से देखा, पर बोली नहीं।

महाराज ने कहा, "अपराधिनी का संरक्षक कौन है?"

"मैं हूं देव! क्षत्रिय मकरंद।" मकरंद ने हाथ जोड़कर कहा।

"तुम बता सकते हो?"

"देव! मैं नहीं जानता। इतना जानता हूं कि कुछ दिन पूर्व जब मैं पण्य में था, किसीने मुझे सूचना दी कि मेरे घर में आग लग गई है। धुआं निकल रहा है और मेरी स्त्री, यही शेफालिका, घर में नहीं है। मैं भागा-भागा घर पहुंचा। सचमुच शेफालिका नहीं थी। आग नहीं लगी थी। अवश्य ही वह प्रकोष्ठ में सुलगाई गई थी। नीम के पत्ते पड़े थे पास में अधजले। एकाध धतूरा भी था। एक प्याली में आक का दूध-सा था, क्योंकि पास में कुछ आक के पत्ते भी पड़े थे। और महाराज! इसी शेफालिका की कोख से जन्मी मेरी दुधमुंही, एक महीने की बच्ची शय्या पर मरी पड़ी थी। मेरे शोरगुल से पड़ोसी आए। तब तक यह भी आ गई। मैंने पूछा तो इसने कहा कि एक औषधि बनाने को इसने धुआं किया था, वह पत्ते लाई थी; उठकर जरा शौचार्थ बाहर गई थी। देव! उस समय हमारा शौचगृह बरसात से गिर गया था, सो हम लोग पिछवाड़े के घने उपवन में जाने को विवश थे। सबने शोक प्रकट किया और चले गए। मैं समझा कि यह बहुत रोएगी, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसने केवल यही कहा, 'कन्या के लिए क्या रोऊं? यह तो बड़ी होकर दुख ही पाती!' बस देव! और कोई बात मैं नहीं जानता।"

महाराज ने कहा, "यह घटना किस वार को हुई?"

"देव! वार तो शायद शनिवार ही था।"

"इसके कितने दिन बाद पहली आग लगी?"

"देव, सातवें दिन।"

"और शेष?"

"हर सातवें दिन!"

"वादियों में से केवल उग्रगुप्त के घर अपराधिनी पकड़ी गई?"

"हां देव !"

"तव छश्रों के घर में आग इसीने लगाई, यह केवल अनुमान है। अनुमान के क्षेत्र में अपराधी को सन्देह का लाभ देना ही परंपरा है। अतः अव केवल उपगुप्त वोलें।"

विरुद्धक ने टोका, "देव ! हम तो वरवाद हो गए।"

उपक ने कहा, "महाराज ! हम तो भिखारी हो गए।"

"दैव का कोई प्रतिकार नहीं," महाराज ने कहा, "उसका उपाय यही है कि तुम राजा से संरक्षण मांगो। आकस्मिक दुर्घटना होने पर राज्य ऋण भी दे सकता है, और दान भी। वाद का काम आगे चले।"

छश्रों वादी यह सुनकर पुकार उठे, "महाराज की जय ! महाराज का न्याय अजेय है !"

दण्डधर ने दण्ड पटककर पुकारा, "शांत ! शांत !"

निस्तब्धता छा गई।

महाराज ने शेफालिका से कहा, "अपराधिनी तुम हो। आग तुमने लगाई। आग तुमने क्यों लगाई ?"

मकरंद ने कहा, "देव ! यही क्या निश्चय है कि आग इसीने लगाई। हो सकता है यह देखने निकली हो। उपगुप्त मेरे पड़ोसी हैं। संभवतः यह आग देखकर निकली हो ! और उपगुप्त के दास ने भूल की हो।"

सभा में सन्नाटा खिंच गया। महाराज ने उपगुप्त की ओर देखा। तव एक अजीव वात हुई। शेफालिका विचित्र ढंग से हंसी। उसकी आंखें चमकने लगीं। उसने कहा, "नहीं। आग मैंने लगाई है। मैंने ही सातों शनिवारों को आग लगाई है। मैंने ही अपनी वच्ची को आक का दूध पिलाकर प्रकोष्ठ में धुआं घोंटकर उसकी हत्या की है।"

और वह फिर दांत भींचकर चुप हो गई।

सभा में आतंक फैल गया। मकरंद ने अवाक् होकर देखा और उसके वाद फुसफुसाते स्वर सुनाई दिए, "राक्षसी ! राक्षसी !"

उन शब्दों को सुनकर शेफालिका जैसे संतुष्ट हुई। वह अपने विखरे वालों

को हाथ से पहराती चिल्लाई, "हां, मैं राक्षसी हूं ! मैं हूं राक्षसी ! मैंने निरपराधों के घर जलाए हैं ! मैंने उन्हें भिखारी बना दिया है ! मैंने उनके पशुओं को जलाया है ! मैंने उनकी स्त्रियों और बच्चों को चिलबिलाते देखा है ! मैंने इस अपनी अबोध दुधमुंही, प्यारी बच्ची की हत्या की है ! मुझसे घृणा करो ! यह राजा मेरा न्याय नहीं कर सकता ! यह मुझे छोड़ देगा ! यह मुझे मंदिर का ग्राम देना चाहता है। अपराध मैंने किया है और दण्ड यह भरना चाहता है। नहीं ! पाप का फल मुझे दो ! मैं ही राक्षसी हूं ! पापिनी ! पाप में डूबी हुई ! स्वार्थ के विष ने ही मेरी धमनियों में यह भीषणता व्याप्त की है। मैं जिन्दा जला देने योग्य हूं। जला दो मुझे ! जला दो !"

वह भागने को हुई तो सेवकों ने उसे पकड़ लिया। सब विस्मित-से खड़े रहे। महाराज के माथे पर पसीना-सा चू आया। ममता भयभीत-सी मेरे पावों से सट गई। मकरंद को चक्कर-सा आ गया। उसने आंखें फैलाकर कहा, "तूने ! तूने मेरी बच्ची को मार डाला ! तूने उसे विष दिया ! वह जो प्रदीप-सी मुंह खोलती थी मेरे वक्ष पर किन्तु उसे दूध पिलाए और लोरी गा-गाकर थपकियां दें। मेरी वह चन्द्रमा से भी उज्ज्वल बच्ची ! वह, जिसे देखकर मैंने इतनी कल्पनाएं की थीं !"

"हां !" देवर्मिका ने कठोर स्वर से कहा, "मैं पापिन हूं, तो तुम भी पापी हो !"

वह घबरा उठा, "दुहाई है महाराज की ! यह मुझे पापी कहती है।"

सभा में कोलाहल हो उठा।

"हा देव !" स्त्री चिल्लाई।

कोलाहल में वे स्पष्ट नहीं सुन सके। दण्डधर चिल्लाया, "शान्त ! शान्त !"

निस्तब्धता होने पर स्त्री ने कहा, "मैं मां थी ! मैंने उस बच्ची को मार डाला। महाराज ! पहले मेरे हाथों को कटवा दें। फिर मेरी आंखें निकलवाकर इनमें लाल मिर्च भरवाकर इन्हें कुत्तों से नुचवाएं। फिर जब मैं दर्द से हाहाकार करूं तब सबसे कहें कि वे मुझपर निर्दयता से हंसें। मैंने जिसे कोख में रखा, जिस बालिका को ब्रह्मा ने मुझे दिया, और जिसने उसने मुझे मां बनाया, मैंने



का दूध पिलाकर, उसका गला घोंट दिया। वह बेचारी तो यह भी न जान सकी कि उसके साथ किसने क्या किया? क्यों किया? आखिर उसका दोष क्या था?"

उसने हाथों की मुट्ठियां खोलकर दिखाकर कहा, "ये हैं हत्यारी की उंगलियां! इन्हे देखिए महाराज! इन्हें देखिए!"

महाराज ने धीरे से कहा, "तो शेफालिका; तूने ऐसा क्यों किया? क्या उस समय तुझमें मातृत्व शेष नहीं था!"

"मातृत्व!" स्त्री ने स्वर पीछे खींचकर कहा, "मातृत्व स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा छल है, पाप है। क्या है स्त्री का गर्भ! प्राणी की यातना का कारागृह। इसीलिए तो स्त्री घृणित है। इसी हत्या के अभिशाप के फलस्वरूप पहले रक्त बहता है और तब होता है पाप!" वह निष्ठुरता से हंसी और मकरंद की ओर हाथ उठाकर बोली, "बोल! चाहिए तुझे पुत्र! महाराज! इसको पुत्र देने के लिए मैंने इतनी आग लगाई, इतना विध्वंस किया। मणिभद्र यक्ष के मेले में मुझे एक किरात स्त्री ने यह तरीका बताया था कि बेटी को मारकर कह, 'जा! अब अपने भइया को भेज दे, और तब सात शनिवार आग लगा।'"

"अनार्य!" किसीने फुसफुसाया।

"और यह आर्य मार्ग है?" स्त्री ने फूत्कार किया, "कि यह मेरे जीवित रहते दूसरी स्त्री को लाना चाहता था। मैंने देखा मेरे सामने सौत खड़ी थी। सौत!! वह मुझे मार डालती। वह मेरी शय्या पर सोती! और मैं उसके पांव दबाती! जैसे मेरी मां की छाती पर आकर सौत ने मूंग दली थी। मेरी पवित्र माता पति को देवता समझती थी! किंतु सौत, हां, मेरी सौतेली मां ने उसे विष दे दिया! वह तड़प-तड़पकर पानी···पानी···कहती हुई चिल्ला-चिल्लाकर प्यासी मर गई।··· मैं सौत देखती? वह इसके अंक में सोती और मैं?"

ईर्ष्या से उसके नेत्र जल उठे।

सभा निस्तब्ध थी।

महाराज ने कहा, "प्रतिवादी ने पाप स्वीकार कर लिया। वादीगण सुनें। उसने अपराध स्वीकार किया है।"

"हत्यारी!" वे फुंकार उठे। स्त्री अब चुप खड़ी थी।

महाराज ने कहा, "शेफालिका ने घोर पाप किया, किंतु उसके पाप का कारण था—नारी-सुलभ ईर्ष्या, नारी का नारी पर अत्याचार, नारी के नारी पर अधिकार की आशंका। और उसके मूल में थी यह भावना कि यह पुत्रवती नहीं हो सकी। स्त्री पुत्र को जन्म न दे पाने पर अपने को लोक में बांझ समझती है, और स्त्री इस शब्द को अपने लिए नहीं सुनना चाहती। माता की मृत्यु ने इसे डराया था, इसलिए उसने आत्मरक्षा के लिए इतना पाप किया। उस पाप की ओर उसे किसने प्रेरित किया? एक अनार्य स्त्री ने। इस स्त्री ने उसे क्यों स्वीकार किया? अपने गर्भ से जन्मी पुत्री को मारने योग्य दुस्साहस इसमें कहां से आया? पुत्रवती होने की कामना से। यह निर्बलता स्त्री में इतनी सशक्त क्यों हुई? क्योंकि लोक में पुत्र ही जीवन का आधार है। और उसे भय दिलाया किसने? मकरंद ने। हम निर्णय देते हैं कि सातों वादी हमसे अपनी हानि पूरा करें। यह शेफालिका, जिसने आत्मरक्षा के लिए सब कुछ किया, छोड़ दी जाए।"

सभा में जैसे वज्र गिरा। शेफालिका जैसे पत्थर हो गई थी।

"महाराज!" कार्यस्थ कांपते स्वर में बोला, "यह धर्मशास्त्र के विरुद्ध है!"

मैं न जाने क्यों इस निर्णय से विक्षुब्ध हो गई। मैंने खड़े होकर कहा, "महाराज! यह निर्णय पापपूर्ण है।"

"पुत्री!" महाराज ने मेरी ओर आश्चर्य से देखकर कहा। फिर वे मुस्करा दिए और कहा, "दुहिते! अभी तुम नहीं समझ सकतीं। और भी व्यापक होकर सोचना होगा। पाप की जड़ कहां है?"

मैंने कहा, "आर्य! मैं अनभिज्ञ हूं, परन्तु एक बात पूछूं?"

"पूछो वत्से!"

"आत्मरक्षा के लिए आक्रमणकारी पर हमला करके उसे मारना उचित है या निरपराधों को मारकर अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले को संतुष्ट करके अपने प्राण बचाना!"

महाराज सोचने लगे।

मैंने फिर कहा, "यदि शेफालिका को मन का डो[illegible]दि को ह[illegible] करती। उसने अपने क्रूर पति को तो छोड़ दिया। उसे [illegible]

बालिका की हत्या की क्योंकि उस बालिका से इसे सम्मान नहीं मिल सकता था। और इसने दूसरों के घर उजाड़ दिए, कि इसको पुत्र मिले ! यदि इसको उपगुप्त के यहां पकड़ा न जाता, तो क्यों यह प्रकट होती, इसके राक्षसत्व का इसे दण्ड ही क्यों मिलता ? पुत्र होना भाग्य की बात है। मेरे भी तो भाई नहीं है। महारानी भी स्त्री हैं। उन्होंने तो इस तृप्ति के लिए ऐसे कोई जघन्य कार्य नहीं किए ? क्या उनको राज्य का उत्तराधिकारी नहीं चाहिए ? न्याय में क्या स्त्री, क्या पुरुष ! मकरंद ने पुनर्विवाह की धमकी दी ; यह उसे मारती। लोक में बहुविवाह प्रथा है तो यह विवाह ही न करती। इसने जो कुछ किया, लोक के लिए नहीं, अपने लिए किया ! यह दण्डनीय है।"

मुझे क्या पता था कि मेरी बात का क्या नतीजा निकलेगा। सब चौंक उठे। महाराज भी।

पर शेफालिका चिल्ला उठी, "देवी ! चूलकोका पक्षी ! तूने न्याय किया है। मैं तो घबरा गई थी कि ये पुरुष सब मूर्ख होते हैं, मैं क्या करूं ! मैं अब जीवित रहूंगी ! लोक मुझपर घृणा से थूकेगा और मैं जिऊंगी ? इस पशु के साथ ! मैं अनंत नरकों में पति से विद्रोह करने के पाप में रह सकती हूं किंतु मुझे वह स्वर्ग नहीं चाहिए जिसमें इसके साथ रहना पड़े। मैं अधम ! अधमों में अधम ! जिन हाथों से मैंने अपने सुख के लिए अपनी बच्ची का गला घोंटा है, वे हाथ अनंत काल तक नगर-द्वार पर काटकर लटकवा दो ताकि प्रलय तक लोक इन्हें घृणा करते रहें ! मैं पुत्र के लिए ऐसी पापिन हो गई ! मुझे जीवित टुकड़े-टुकड़े कर चील-कौवों को खिला दो !"

वह धरती पर सिर पटकने लगी।

महाराज ने कहा, "पुत्री ठीक कहती है। इस स्त्री को प्राणदंड दो।"

शेफालिका चिल्लाई, "महाराज की जय ! कुमारी लोक में स्त्री को जगाए ! सती, तेरा अखण्ड गौरव हो !"

"और," मैंने कहा, "महाराज ! इस मकरंद को भी दण्ड मिले।"

मकरंद ने कांपते स्वर से कहा, "अन्याय ! घोर अन्याय ! किस स्मृति में लिखा है कि पुरुष स्त्री के बांझ होने पर दूसरी स्त्री से विवाह न करे ? मैंने क्या अधर्म

किया है ? यदि पुरुष के नपुंसकत्व पर स्त्री को अधिकार है कि वह पति का त्याग कर दे; पुरुष को भी स्त्री के बांझ होने पर दूसरा विवाह करने का अधिकार है। यदि मुझे दण्ड मिलेगा तो मैं मृत्यु का वरण करूंगा, परन्तु पहले मुझे पाप समझाया जाए। मैंने क्या बुरा किया, केवल यही जानना चाहता हूं। बांझ स्त्री क्या नपुंसक नहीं होती ?"

"नहीं," मैंने कहा, "उसने पुत्री को जन्म देकर मातृत्व प्रमाणित किया। वह बांझ कहां थी। तूने उससे पुत्र मांगा। कौन जानता है पुत्र तेरे ही भाग्य में नहीं था, तूने दैव को बदलना चाहा।"

वृद्ध ब्राह्मण कञ्चुक ने बढ़कर कहा, "नहीं कुमारी ! यह तो अनुचित है। पुत्र के लिए लोक है। इसने किसी अनुचित तरीके से पुत्र की कामना नहीं की। यह धर्मसम्मत है।"

महाराज ने कहा, "हां, आर्य कञ्चुक ! यह पुरुष का स्वार्थी धर्म है। जब स्त्री का एक विवाह होता है, तब पुरुष के अनेक क्यों हों ? स्त्री के पुत्र नहीं होता, तो क्या पति के रहते उसे भी पुत्र उत्पन्न करने के लिए अन्य पुरुषों से संबंध करने की आज्ञा है ?"[1]

मैं इस बात को अच्छी तरह समझ नहीं पाई।

वृद्ध कञ्चुक ने कहा, "आर्य ! धर्म की मर्यादा तो सदैव बदलती रहती है। अब से यह मर्यादा स्थापित की जा सकती है, परन्तु अभी तक तो ऐसा नहीं है, क्योंकि अभी तक पुरुष को ही स्त्री का प्रत्येक अवस्था में स्वामी स्वीकार किया गया

१. बुद्ध के बाद लगभग ३०० वर्ष के उपरांत जब प्राचीन रामकथा गुप्त-काल में सम्पादित की गई, तब इस विचारधारा के अनुसार राम के रूप में आदर्श पुरुष को चित्रित किया गया, जिसमें हर हालत में राम ने एकपत्नीव्रत का निबाहा—ऐसा दिखाया गया। जैनस्रोतों में जो रामकथा है, उसमें राम के कई स्त्रियां हैं। केवल ब्राह्मण चिन्तन ने यह आदर्श लोक के सामने रखा, यद्यपि यह कार्य व्यवहार में प्रचलित नहीं हो सकता। रहीं जैन विचारकों की बात। उन्होंने एकपत्नीव्रत को विशेषता नहीं दी, क्योंकि बाद में जैनों ने स्त्री को तिरस्कार की वस्तु समझा अतः जैनदर्शन में स्त्री को महत्त्व नहीं मिला। यह एक आश्चर्य की बात है क्योंकि स्वयं तीर्थंकर महावीर स्वामी स्त्रियों के प्रति बहुत उदार थे। उन्होंने [illegible] करने का अधिकार दिया था।

है और लोक में यही प्रचलित है। यदि ऐसा विधान चालू किया जाएगा, लोक इसके विरुद्ध विद्रोह करेगा।"

महाराज ने सिर हिलाकर कहा, "आर्य कञ्चुक ! आप विद्वान हैं, वयोवृद्ध हैं। निस्संदेह यह विषय परिषद् के विचार करने योग्य है। धर्म की मर्यादा के भीतर रहने के कारण मकरंद दण्ड के लिए अस्पृष्ट है। परन्तु मनुष्य धर्म से भी ऊपर है। आज नहीं तो कल इसे कोई अवश्य कहेगा। मकरंद ! तुम मुक्त हुए, क्योंकि इस समय लोक में एक अन्याय ही धर्म के नाम पर प्रचलित है।"

महाराज उठ गए। मैं उनके साथ चली। पीछे मंगला आ गई।

महाराज ने मेरी पीठ पर स्नेह से हाथ फिराया। मुझे उस समय यह नहीं मालूम था कि बात सब जगह फैलती जा रही है और यह फैलते-फैलते चंपा के बाहर अंगराज्य में फैल जाएगी। महाराज बड़े ही प्रसन्न थे और वे बोले, "पुत्र ! मूर्ख पुत्र का मैं क्या करूंगा ! मेरी पुत्री इतनी बुद्धमती है, इसे देख ! लोक देखे। धन्य पुत्री ! तू अपनी माता जैसी विदुषी है।"

मंगला ने धीरे से कहा, "वह तो कहो।"

मैंने कविवाली बात बताई।

सुनते रहे और बोले, "पुत्री ! तू करुण हृदय है। अवश्य कवि को धन देना चाहिए। कवि साधारण मनुष्य नहीं होते। ये लोग श्लोक कैसे बना लेते हैं ?"

फिर हंसे और बोले, "मैंने प्रयत्न किया, पर एक भी नहीं बना। वैसे पढ़ता हूं तो लगता है, अरे यह तो बड़ा सरल है, फिर मैं क्यों नहीं बना पाता ? बिटिया ! तू बना लेती है ?"

मैंने कहा, "नहीं पिताजी ! मैं क्या जानूं ?"

फिर वे सोचते हुए बोले, "और कवि का लोक में वैसे कोई मूल्य नहीं है। हमारा धर्म, हमारा सब कुछ काव्य में है। परन्तु जो इतना बड़ा काम करता है, उसका कोई आधार नहीं है। पहले कवि वनवासी होते थे, अब वे नगर में रहते हैं।" फिर बदलकर कहा, "अच्छा, चलो। पहले नाटक सुनें।"

मैंने उन्हें नाटक सुनाया तो बोले, "यह तो बड़ा अच्छा कवि है। इसको अवश्य धन देना। दरिद्रता बहुत भयानक होती है। समझ में नहीं आता वह कौन-सा

पुण्य है जिसके फलस्वरूप मनुष्य कवि बनता है, परन्तु वह पुण्य भी उसे दरिद्रता का ही दुःख देता है।"

मैंने कहा, "पिता! वह बहुत दुखी है।"

"तुझे कैसे पता?"

"आचार्य करवीर कहते थे।"

"उसे क्या दुःख है!"

मैंने पत्नीवाली बात सुनाई। सुनकर वृद्ध उदास हो गए। फिर सोचते हुए बोले, "पुत्री! यह नहीं जान सका हूं कि लोक में स्त्री का पाप अधिक है या पुरुष का। पर तू अभी बच्ची है। तू क्या समझेगी बिटिया!"

मैंने रूठकर कहा, "अभी तो आप कहते थे कि मैं सब समझती हूं।"

वे हंसे और मेरे सिर पर हाथ फेरकर बोले, "अरे बिटिया! मैं तो सच भूल ही गया था। पर तू अभी छोटी-सी ही तो है, मुझे तेरे खेल याद आते हैं!"

वे जैसे अतीत में खो गए।

मैं जाकर आचार्य से मिलना चाहती थी। सो लौट आई। आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब आचार्य नहीं आए।

दुपहर बीतने लगी।

मैंने कहा, "मंगला! आचार्य को आज क्या हुआ?"

मंगला ने मेरी ओर देखा और उसकी आंखों में भी कौतूहल था।

"आज शायद अस्वस्थ हों।"

"तो चल कहीं घूम आएं।"

"जरिता मौसी को तो बुला लूं।"

"ले आ। मां से कह आना।"

मंगला चली गई।

हम जब चले तो मारुत ने कहा, "राजकन्ये! किधर चलूं?"

"मारुत!" मंगला ने कहा, "राजकन्या चाहती हैं कि नगर में होकर चल!"

"नगर में? क्यों?"

"पूछ तू ही।"

मारुत की हिम्मत अधिक नहीं हुई। बोला, "जरिता ! सैनिक तो साथ ले ले।"

जरिता ने ताली बजाई। दण्डधर आ गया।

"जा, सैनिक भेज दे।"

वह सिर झुकाकर गया और बीस सशस्त्र सैनिक रथ के पीछे घोड़ों पर चढ़े आ गए। मैंने कहा, "अरे इतने क्या होंगे !"

"आगे देखो !" मंगला ने कहा।

लगभग बीस ही आगे थे रथ के।

अब राजकुमारी—यानी मेरी सवारी गौरव से चलने लगी, किंतु मुझे अपने एकांत में बाधा पड़ती लग रही थी। पहली बार मैं अकेली थी। परन्तु मां इस बात से नाराज़ हुई थीं कि मैं ऐसे चली गई थी। मारुत को बड़ी फटकार लगी थी। अंतःपुर के महाप्रतिहार ने कहा था, "इस बार नौकरी से नहीं निकाला जाता, केवल इसलिए, समझ ले कि राजकन्या ने तुझे बचा दिया है। परन्तु तू वृद्ध होकर कैसे अपनी ज़िम्मेदारी भूल गया !" इसलिए अब उसकी कैसे भी हिम्मत ही नहीं पड़ी थी। अश्वारोहियों को देखकर प्रजाजन सामने से हट जाते थे। सैनिकों के भालों पर ढलते सूर्य की किरणें चमक रही थीं।

हम वन की ओर निकल गए। वन की शोभा देखकर मेरा हृदय प्रसन्न हो उठा। सघन वृक्षों के नीचे से गाएं लौटी थीं, जिनके खुरों से धूलि उठ गई थी। उस धूलि पर सूर्य की पीली किरणें पड़ने से ऐसा लगता था जैसे सोना ढेर-ढेर बिखर गया हो। मैं देखती रही। बोली नहीं। जब हम दूर निकल आए, जरिता ने कहा, "अरे, बहुत दूर आ गए। लौटा ले भैया मारुत !"

मारुत ने हांक दी। आगेवाले सैनिक मुड़ चले और हम जैसे गए थे वैसे ही लौट चले। मेरे रथ के दो घोड़ों और सैनिकों के चालीस घोड़ों के दौड़ने से वन-प्रांतर कांप उठा। उनकी गति से उनकी अयालें उड़ने लगीं। हवा मेरे शरीर में बड़ी सुखद-सी आ-आकर लगती थी। शीघ्र ही नगर-द्वार दीखने लगा।

जब हम राजपथ पर आ गए, सामने भीड़ दिखाई दी। सैनिकों में आगेवाले ने चिल्लाकर कहा, "हट जाओ ! पथ से हट जाओ ! राजकुमारी आती हैं। भट्टारिका आती हैं।"

और उसके हाथ में कशा (कोड़ा) चमक उठी। भीड़ फट गई। रथ आगे बढ़ा।

किन्तु मैं तो अवाक् रह गई। पथ के किनारे लुटे हुए-से खड़े थे आचार्य करवीर।

"रोक मारुत! रथ रोक!" मैं चिल्ला उठी।

मारुत ने रथ रोक दिया।

मैंने कहा, "मंगला! देख तो आचार्य करवीर को क्या हुआ? फटे कपड़े! सिर पर धूल!"

मंगला उतर गई और खोए-से खड़े हुए आचार्य के पास चली गई। आचार्य ने सूनी आंखों से देखा।

"प्रणाम करती हूं आचार्य!" मंगला ने कहा। भीड़ यह सुनकर हंसने लगी। आचार्य पागलों की तरह चिल्लाने लगे, "हंसो! और हंसो! तुम मेरा घर जलते हुए देखकर हंसते हो! एक दिन आएगा जब तुम सब रोओगे, छाती पीट-पीटकर रोओगे!"

उनकी उत्तेजना देखकर हम सब सहम गए। जरिता ने पुकारा, "आर्य! आइए। राजकन्या प्रतीक्षा कर रही हैं।"

आचार्य ने सुना और रथ के पास आ गए। जाने क्यों मुझे देखकर वे फूट-फूटकर रोने लगे। मेरी भी आंखों में आंसू आ गए।

मैंने भर्राए स्वर से कहा, "आचार्य! क्या हुआ?"

उन्होंने रोते हुए ही कहा, "बिटिया!" फिर चौंककर कहा, "भट्टारिके! सब लुट गया। सब चला गया।"

जरिता ने पूछा, "क्या लुट गया आर्य!"

करवीर ने स्वर ऊंचा उठाकर कहा, "अब मुझे कोई लज्जा नहीं जरिता! अब मुझे कोई लज्जा नहीं। मेरा बड़ा बेटा, तू तो जानती है, मर गया और विधवा छोड़ गया था। मेरे दूसरे बेटे की अनेक संतान देखकर, मैंने उसका दूसरा ब्याह कराया था। मेरी बेटी थी छोटी, उसका यहीं विवाह हो जाए, इसी आशा से मैं पाल रहा था। अब कुछ नहीं रहा। बड़ी पुत्रवधू अब किसी व्य[illegible] द्वारा

गर्भवती हो गई। उसने मेरा मुंह काला कर दिया और प्रकट भी हो गया। क्यों? क्योंकि दूसरे पुत्र की दूसरी वहू अपने सौतेले वच्चों पर घोर अत्याचार करती थी, उसको मैं रोकता था, इसलिए उसने मुझे अपमानित करने को सब कुछ प्रकट कर दिया। और," करवीर हंसे, "मेरी लाडली अवोध वच्ची को कुट्टिनी (कुटनी) अलम्बुषा फुसलाकर कहीं भगा ले गई और अब वह कहीं वेच दी जाएगी। हो गया! सब खेल समाप्त हो गया। करवीर! तूने बहुत चित्र वनाए और अब अंत में तू ही चित्र बन गया।"

आचार्य भाग चले।

मैं देखती रही। भीड़ हंसने लगी। तब जरिता ने कहा, "रथ बढ़ाओ…"

रथ आगे बढ़ा। भीड़ छंट गई और हम आगे निकल आए। मुझे कुछ बुरा-बुरा-सा लग रहा था सब कुछ। प्रासाद में आकर मैं शय्या पर लेटकर रोने लगी। जरिता ने संवाद मां को पहुंचाया।

"पुत्री!" मां ने आकर मुझे हिलाया, "क्यों रोती है तू बिटिया!"

"मां!" मैंने कहा, "यह संसार तो बहुत बुरा है।"

मां के पहले ही द्वार से उत्तर सुनाई दिया, "हां बेटी! यह तभी तो मृत्यु-लोक कहलाता है।"

"स्वामी!" मां ने कहा।

"हां देवी! आज पुत्री संसार के दुःख से व्याकुल हो गई है न? आचार्य करवीर की अवस्था देखकर। इस राज्य का अधिपति होने के नाते, सब जानकारी मुझे प्रायः पहले ही मिल जाती है। आचार्य करवीर राज्य के गौरव थे। आज वे पथों पर पागलों की तरह भाग रहे हैं।"

उनका स्वर बहुत सधा हुआ था।

मां ने कहा, "देव! उन्हें क्या वेदना है?"

"देवी! बहुत बड़ी साधना यदि नष्ट हो जाए तो मनुष्य का क्या होता है? वह अपने को संभाल नहीं पाता। लोक की कुटिलता ने सीधे-सादे आचार्य को मिटा दिया। महानता जिस क्षुद्रता में पलती है, वह क्षुद्रता कभी महानता को समझती नहीं। तुम क्या समझती हो कि बार-बार जिसपर झुक-झुककर कमल

अपना पराग बरसाता है, उस कमल को वह नीचे की कीचड़ कुछ समझती है ? कुछ नहीं। देवी ! यह लोक ऐसी ही घृणा और अविश्वास के थपेड़ों में डगमगा रहा है। स्त्री और पुरुष परस्पर एक-दूसरे से जूझ रहे हैं। उनको अहंकार और संदेह खाए जा रहा है। वे स्नेह ढूंढते हैं अपनी वासनाओं से विवश होकर, किन्तु उन्हें मिलती क्या है ? घृणा। घृणा ही तो लोकाचार का रूप बन गई है। मनुष्य सहज नहीं रहा है। धन ! धन की विषमता एक ऐसा जाल है, जिसमें दैव मनुष्यों को पहले फांस देता है ! यह धन क्या है ? इसका ऐसा रूप क्यों है ? क्यों इससे मनुष्य को इतना मद आता है ? क्यों इसके पीछे मनुष्य इतना कमीना हो जाता है ? इसमें ऐसी क्या शक्ति है कि जिसके पास यह है, वह इसे और इकट्ठा करना चाहता है ? क्या है इसमें कि मनुष्य अपने मनुष्यत्व को इसके पीछे भूल जाता है ? यह आज तक कोई नहीं बता सकेगा ! कौन जानता है मनुष्य कभी इसकी समस्या को सुलझा भी पाएगा या नहीं ? देवी ! इसीके कारण हमारे परिवार में स्त्री और पुरुषों के संबंध भी विचित्रता से उलझ गए हैं।"

महाराज कहते रहे। मैं सुनती रही। महाराज ने फिर कहा, "धन के संबंध मैंने ऐसे-ऐसे देखे हैं देवी ! कि तुम सुनोगी तो विस्मय करोगी, परंतु लोक में वह ऐसे सहज सत्य हो गए हैं कि उनपर कोई अब विस्मय नहीं करता।"

मैं उठी। कहा, "पिता ! यह संसार क्या केवल पाप है ! मां तो संसार में बहुत अच्छी होती है, फिर लोग ऐसे क्यों होते हैं ?"

"मां !" पिता ने कहा, "बिटिया ! तूने देखा नहीं है अभी ! एक कोख से जन्मे भाई-बहिन एक घर में रहते हैं, मां बेटों को घी-दूध देती है, बेटियों को नहीं। कहती है, 'तुम्हें क्या है ? तुम तो परायी धरोहर हो ! मैं भी ऐसी ही पत्नी थी। तब मैं भी बुरा मानती थी, पर जब तुम मां बन जाओगी तब तुम भी यही करोगी जो मैं करती हूं।'—सचमुच स्त्री की जाति सहज नहीं मरती। वह तो पिट-पिटकर भी खड़ी हो ही जाती है।"

पिता के शब्द सुनकर मां ने कहा, "देव ! आज अधिक विचलित हैं आप !"

पिता ने ऐसे देखा जैसे बहुत दूर वे किसी पर्वत पर खड़े थे। और मां धरती पर थीं। फिर कहा, "मनुष्य का स्नेह वास्तव में लोक के आचार के अनुसार निर्धारित

यह है वसुमति अब तेरह के अंत में, चौदहवें में लगने लगी है।

सौतें कहतीं, "बिटिया राजकुमारी! आप अभी नहीं समझेंगी। आप छोटी हैं। इस संसार में विधाता ने पुरुष को ही सारी शक्ति दे दी है। वह चाहे जो कुछ कर सकता है। स्त्री तो एक खेत है। उसे तो केवल अन्न उगाना है, इसके अतिरिक्त और उसकी कोई सार्थकता ही नहीं।"

वसुमति इस बात को नहीं समझ पाती और मुझसे कहती, "अम्ब! पिता तो इतना प्यार करते हैं मुझे, क्या मेरे..."

और कहते-कहते रुक जाती। सहसा ही लज्जा से उसका मुख आरक्त हो जाता और तब उसे ध्यान आता कि वह क्या कहने जा रही थी।

मुझे यह देख अपनी वय:संधि की याद आती और ऊपर से अपना बड़प्पन दिखाती हुई कहती, "दुत् पगली! कहीं ऐसे कहते हैं!"

पर मैं जानती हूं कि दासी श्याभेलिका, जिसे सब छोटा करके श्याभला कहते हैं, उससे विवाह-संबंधी बहुत बातें किया करती है। कन्या सयानी होने लगे तो उसे काम-संबंधी ज्ञान देने का काम बढ़ जाता है। या तो किसी सच्चरित्र श्रमणी को यह काम दिया जाता है, या फिर कोई अच्छे कुल की विवाहित स्त्री इस काम को करती है। श्याभला वसे अच्छे चरित्र की है, इसे मैं जानती हूं। मैं भी इसमें बुरा नहीं समझती, और वह बिटिया को इस संबंध में शिक्षा दिया करती है। उसकी लड़की मेरी पुत्री से बड़ी है। श्याभला धात्रेयिका ने तो बिटिया को बचपन से ही दूध पिलाकर पाला है। मैं जब सत्रह की थी, तब यह जन्मी थी। तब इसके पिता बाईस बरस के थे, राजकुमार ही थे। अब इस बात को तेरह बरस बीत गए। मैं तीस की हो गई। यह तो मैं नहीं कहूंगी कि मेरा यौवन चला गया। सचमुच यदि वसुमति मेरे सामने न हो तो न कोई दूसरा ही कह सकता है कि मैं पूर्ण युवती नहीं हूं, न मैं ही। उसको देखकर ही मुझे स्मरण होता है कि मैं पहली पीढ़ी की हूं। मेरे पति अब लगभग पैंतीस वर्ष के हैं। उनको देखती हूं तो आंखें भर जाती हैं। लंबे-चौड़े कंधे, लंबी आंखें, नुकीली नाक और पतले-पतले होंठ। एक-एक पेशी शरीर की सुघरता का परिचय देती है। कंधों पर काले मुलायम केश फैले रहते हैं। ऐसा यौवन देखकर चम्पा की कुलीन युवतियां आहें भरती हैं। जानती हूं

मैं ! मेरी सौत बनने को कितनी न रातें करवटें बदलती ही बिताती हैं, यह भी मुझसे छिपा नहीं है ! मैं अकेली हूं, पति की प्रिया ! स्त्रियों को मुझसे कितनी ईर्ष्या है ! सुनने में आया कि राज्य के कुछ अधिकारी मन ही मन महाराज से असंतुष्ट भी हैं, क्योंकि वे इसे उचित नहीं मानते। इसके वे कई कारण देते हैं। एक तो यह कि राजा व्यक्ति नहीं होता, प्रजा के लिए एक समष्टि का व्यष्टि-रूप होता है। उसे एक स्त्री से इतना लगाव रखना ठीक नहीं। क्या जाने स्त्री कैसी निकले ! स्त्री की बुद्धि का क्या ठिकाना ? ऐसा पुरुष जो इस पद पर रहकर एक स्त्री के वश में रहता है, वस्तुतः वह राज्य को अर्थात् समस्त प्रजा को एक स्त्री की स्वेच्छा के चरणों में छोड देता है। यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्री को पति के द्वारा मिला हुआ अधिकार ऐसा नहीं होना चाहिए, जो पति के ही अधिकारों का अतिक्रमण कर दे। दूसरा कारण शायद यही हो, और कौन जाने, महाराज में इतनी शक्ति ही न हो, अन्यथा कौन पुरुष है जो अनेक सुन्दरियों का उपभोग करना न चाहता हो ! इस बारे में तो अन्तःपुर के कंचुक से राजवैद्य ने एक बार एकान्त में कहा भी था कि यदि महाराज चाहें तो मैं श्रोषधि दे सकता हू। सच कहती हू, पुरुष में इस लांछन को झेलने के लिए कितना बडा धैर्य चाहिए, यह मैं जानती हू; क्योंकि जब दूसरी स्त्रिया मेरे पति को निर्बल जानकर मुस्कराती हैं, तब न केवल वह उनका अपमान होता है, वरन् मेरा भी; क्योंकि वे फिर वसुमति की ओर सदेह से देखती हैं, जैसे यह सतान भी मेरे पति की नहीं। कितनी घृणित है यह लोक की व्यवस्था। अपने अनुभव से यही कह सकती हू कि स्त्री बहुत मलिन होती है और वह छोटी बातें सोचती है। अच्छा होता यदि इस अपनी एक पुत्री के अतिरिक्त भी दो-एक संतान होतीं ! वसुमति का छोटा भाई कितना सुदर होता। फिर भी मेरे पति को ये सब चिंताए नहीं सताती। मैं स्वय उनसे कुछ नहीं कह सकती। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि राजा को चार विवाह तो जायज़ हैं, फिर भी एक विवाह करना, अमात्यों को बिलकुल नापसद है। वे कहते हैं कि राजाओं के विवाहों से राजनीतिक संबंध बनते हैं। यह मैं नहीं मानती। यह ठीक है कि लोक में यह चर्चा की बात है कि एक स्त्री का पति पर पूर्ण अधिकार हो, वह स्त्री सबकी आखों में खटकती है। लोग समझते हैं कि ऐसी स्त्री जादूगरनी है, परंतु राजनीतिक विवाह

जय-पराजय की अभिव्यक्ति-मात्र होते हैं। स्त्री देना, एक पराजय की स्वीकृति है, जैसे अपना खेत, दूसरे को हल चलाने के लिए दे देना। अपनी आंखों से ही जो देखती हूं, दूर क्यों जाऊं? वत्सराज की राजधानी कोसांवी इस दृष्टि से अपने अंग-देश की राजधानी चंपा से रक्त से जुड़ी हुई है। मैं धारिणी, अंग की रानी; मेरी वहिन मृगावती, महाराज शतानीक की पत्नी, वत्स देश की रानी। फिर भी क्या वत्स और अंगदेश एक हैं? जैसे साधारण घरों में एक घर की दो लड़कियां अलग-अलग घरों में जाकर अपने-अपने पति के स्वार्थ देखती हैं, वही राजकुमारियों का भी होता है। भेद इतना है कि ये घर वड़े होते हैं और राज्य कहलाते हैं। और तव वहिनें अपने स्वार्थ को पति के स्वार्थ से मिला हुआ पाती हैं और उनमें परस्पर स्नेह नहीं रह पाता। ऐसा क्यों होता है? क्या स्त्री का वास्तव में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है? और सोचने पर पाती हूं कि सचमुच अस्तित्व नहीं है।

श्यामला कहती है, "मैं एक ऐसे परिवार में दासी थी जिसमें एक भाई था, एक वहिन। दोनों में वड़ी प्रीति थी। वहिन कलावत्तू का काम जानती थी। कमा लेती थी अपने लायक। श्रेणी का एक ठेकेदार अड़ोस-पड़ोस में जाता था और स्त्रियों को काम दे आता था। ले जाते समय मूल्य चुका जाता था उनके श्रम का। भाई राजकर्मचारी था। भाई ने वहिन से कई वार कहा, 'तुझे मेरे कमाते हुए, कमाने की ज़रूरत ही क्या है?

"वहिन कहती, 'भैया! घर वैठे-वैठे करूं भी क्या? दो कौड़ी हाथ रहें तो वक्त-वेवक्त काम भी तो आएंगी?

"वह कहता, 'पर वहिन! लोग समझते हैं कि मैं अपनी वहिन को खाना भी नहीं दे सकता। तेरे कमाने से मेरा अपमान होता है।'

"वहिन हंसकर कहती, 'भैया! मैं हूं विधवा। तेरे सहारे सम्मान का जीवन विता रही हूं। अन्यथा क्या लोक में कम खतरे हैं युवती के लिए! वे लोग घर में ज़्यादा आमदनी देखते हैं तो जलते हैं। उनकी कोशिश है कि किसी तरह तुझपर ही सारा वोझ डाल दिया जाए। भला मैं कमाऊं तो इसमें किसीका क्या अपमान है?'

"भाई फिर भी हठ करता रहता। कुछ दिन में ही भाई का व्याह होनेवाला

था। बहिन ने कहा, 'पर मैं खाली बैठी-बैठी करूं भी क्या ? अब तेरी बहू आ जाएगी, तो मैं संग-साथ पा जाऊंगी। तब छोड़ दूंगी।'

"चुनांचे ब्याह हुआ। बहू आई। कुछ दिन तक ठीक चला। बहिन छिपे तौर पर मेरे द्वारा अपनी रोजी चलाती रही। प्रकट में वह बेकार लगती थी। तब बहू ने आकर शासन शुरू किया। और बहिन चुपचाप सब झेलती रही। यहां तक कि मेरा और उन बहिन का दर्जा एक-सा हो गया, लेकिन बहिन की रोजी मेरे द्वारा दिनभर चलती रही। रात को सब सो जाते तो वह दीप जलाकर चुपचाप कलावत्तू के नमूने काढ़ती और मैं बेच आती। अब बहू का अत्याचार और बढ़ा। भाई में शिकायतें शुरू हुईं और वह कुछ नहीं बोला। बहू कहती, 'अरी, अपने क्ये तो खाजाई! इन हाड़ों को ऐसे मत पाल रांड' काम कर दारिये।'[1] और अंत में भाई एक दिन बहिन को मारने को खड़ा हो गया। तब बहिन हंस पड़ी और कहने लगी, 'भैया ! हाथ मत उठा। मैं घर छोड़ जाती हूं। तेरा हाथ उठ गया है। मैं जानती थी कि ऐसा होगा। मैंने अब तक अपनी रोटी कमाई है। इतने दिन के खर्चे के लिए तुझे आज तक की रोटी चुका जाती हूं।' स्त्री तब ही पिटती है जब उसको पेट के लिए दबकर रहना पड़ता है।

"भाई का यह सुनना था कि [illegible] पांवों के नीचे से खिसक गई। बहिन ने कहा, 'भैया ! तू जब अकेला था तब तुमने कहा करता था कि मेरे रोटी कमाने से तेरा अपमान होता था। पर अब तेरी औरत मुझे झाड़ू मारती है तब तेरा अपमान नहीं होता ? फिर भी मैं नहीं बोली। आज तू भी हाथ उठाने को आ गया। मैं इस दिन के लिए [illegible]। इस लोक में दया, स्नेह और ममता, अपने परिवार में ही रहती है। और यही ठीक है, क्योंकि यहां स्त्री-पुरुष [illegible] हुए रहते हैं। परिवार और घर का मूल आधार धन है। जिस प्रकार पुरुष का, और स्त्री स्त्री का शत्रु है, उसी प्रकार पुरुष और स्त्री [illegible] हैं, [illegible]। आपस की [illegible] ही सारी सहिष्णुता की जड़ है [illegible]

[illegible] की यह कथा मुझे बहुत बड़ा सबक दे गई है। पुरुष के [illegible] है। स्त्री [illegible] है अपने पिता का और पुरुष में लग जाती है। [illegible]

1. [illegible]—[illegible]—[illegible]। [illegible] यह शब्द 'दासी' के रूप में [illegible]

अपने बच्चे होते हैं। और इसके बाद वह अपने की ममता में ऐसी बंध जाती है कि कुछ अंत नहीं होता।

यों कभी-कभी मैं सोच लेती हूं किंतु यह सब मुझे भारालस कर देता है। मेरी बिटिया अब चौदहवें में लग रही है। है वह कितनी सुंदर ! इसका विवाह किससे हो ! उठान लड़की है। अनिंद्य है इसका रूप !

यों मैं सोचती रही, सोचती रही। मगध का राजकुमार कुणिक है। पर वह अभी छोटा है। मगध में नहीं। अवन्ति में कोई नहीं। गणराज्यों के क्षत्रिय ! नहीं वे भी ठीक नहीं रहेंगे। वत्स का उदयन भी जोड़ का नहीं है। वह भी छोटा रहेगा। एक ही बेटी है। बाप ने इसे बेटा समझकर पाला है। क्या है जो लड़कों को सिखाया जाता है और इसे नहीं सिखाया गया ! श्यामला तो कहती है, "वसुमति वास्तव में वसुकुमार थी। अब स्त्रीत्व के चिह्न प्रकट होने से इसमें अवश्य लज्जा आ गई है वरना बातचीत में तो यह लड़कों की तरह मुखर है। इसने लड़के देखे ही कहां हैं चारों ओर देखती हूं तो कोई राजकुमार मुझे इसके अनुरूप नहीं दीखता। किससे होगा इसका विवाह। ज्योतिषियों से पूछती हूं तो वे कुछ नहीं बता पा श्यामला कहती है, "भट्टारिके ! राजकन्या के विवाह की चिंता न करें। अ अपना भाग्य हरएक का होता है। इनका भी है। दैव तो पहले ही से जोड़ा देता है। कन्या की तो चिंता ही नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विधाता उसके तो पुरुष को पहले ही पृथ्वी पर भेज देता है।" सचमुच ! क्या यही होता संसार में ?

श्यामला ने आकर कहा, "देवी ! कुमारी रथ पर घूमने जाना चाहत

मैंने कहा, "ले जा श्यामला ! तू संग जा। और कौन जाएगी साथ

उसने कहा, "देवी ! उनकी मुंहलगी सखियां तो वे ही तीन हैं विरजा और सुनामा।"

"हां, ठीक है। सेना भी साथ रहे।"

श्यामला चली गई।

मंगला एक दासी है। उसे महाराज ने बचपन में असहाय बिकते दे लिया था। एक पार्श्वनाथ के अनुयायी, जिन श्रमण ने उसे बहुत बच

कुत्ते से बचाया भी था। यहां वह वसुमति के साथ खेलकर बड़ी हुई और दोनों में इतना स्नेह हो गया है।

किन्तु मैं सोचती हूं। स्त्री का प्रेम भी क्या? लोग कहते हैं कि स्त्री का हृदय बड़ा दृढ़ होता है। परंतु मैं यही मानती हूं कि स्त्री की प्रीति परिस्थितिवश बदलती रहती है। या यों कहूं कि अपने सुख के कारण स्त्री का स्वार्थ उसे विभिन्न दशाओं में विभिन्न रूपों में प्रेरित करता है।

विरजा सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा की बेटी है। पहले तो दिन-रात राजकन्या की सेवा में रहती थी। अब विवाह हो गया है तो पतिगृह चली गई है। सुखी है। जब कभी आती है तो नन्दी से मिलने अवश्य आती है।

सुनामा है चम्पा के महाश्रेष्ठि नदक की बिटिया। दो बरस छोटी है वसुमति से। गुड़ियों का खेल खेलती है।

रथ आ गया। सुवर्ण और रत्नजटित। लड़कियां चली गईं। मैं याद करने लगी। चंपा का वैभव मैंने कई वर्षों से देखा है। यह बहुत ही सुन्दर नगर है। चंपा नदी, प्रासाद, उपवन, जलाशय, मार्ग, सब मुझे भाते हैं। दूर-दूर से यहां व्यापारी सार्थ लेकर आते हैं। नगर के बाहर कुछ दूर तक बहुत ही सुहावना वन-प्रदेश है; फिर प्रारंभ हो जाते हैं वे खेत, जो वर्षा और शीत में हरियाली से लहलहा उठते हैं। उनके बीच-बीच में, घने पेड़ों के बीच-बीच में गांव हैं। मैं उनमें नहीं गई हूं। मैंने केवल वे ग्रामीण देखे हैं जो आकर मुझे देखकर भेंट देते हैं, और उनकी स्त्रियां मंगलगीत गाती हैं। मैंने उनमें गुड़ बंटवाया है, लावा बंटवाया है। इस दृष्टि से हमारा राज्य बहुत सम्पन्न है, यद्यपि छोटा है।

मैं उठी और महाराज के प्रासाद की ओर चली। दासियों ने सूचना दे दी।

मुझे देखकर महाराज मुस्कराए। कहा, "आओ देवी! तुम भी देखो।"

वे श्वेत धोती पहने थे। शरीर और भुजा पर आभूषण थे। आंखें वही स्वप्न-लोक में झांकती-सी थीं। बायें कंधे पर रेशमी उत्तरीय पड़ा था और वे एक बड़े तख्त पर बैठे थे जिसपर पारसीक कालीन बिछा था। सामने एक रेशम का टुकड़ा था।

मैं एक किनारे बैठ गई। और कहा, "देव! आज व्यस्त हैं?" फिर कह उठी,

"कब नहीं रहते स्वामी !"

महाराज ने कहा, "देखो देवी ! यह मेरी नई योजना है। इसे मैं परिषद् के सामने रखनेवाला हूं।"

मैंने देखा और कहा, "देव ? यह तो कोई नक्शा है ?"

"हां देवी !" महाराज ने प्रसन्न होते हुए कहा, "राज्यकोष में इस समय फि काफी धन इकट्ठा हो गया है। परिषद् ने राजकुल के लिए जो धन निर्धारित किया वह मेरी समझ में आवश्यकता से अधिक था। मैंने उसे अलग रखा जो हमारे आवश्यकता से अधिक निकला। जो बेकार लोग बाकी हैं, उन्हें काम में लगाने के लिए मैंने यह सोचा था कि कुछ नये सरोवर खुदवाए जाएं। उनकी स्थिति कह हो, मैं यही तय कर रहा था।"

मेरे पति की चिंता सदैव मेरी चिंता भी रही है।

मैंने कहा, "देव ! यह तो ठीक है किन्तु आपको कुछ घर की भी चिंता है ?"

"क्यों ? क्या हुआ ?" वे चौंक उठे।

मैंने कहा, "पुत्री अब युवती हो चली।"

"तुमने कैसे जाना !" और पुरुषोचित अज्ञानता से यह आकस्मिक आश्चय प्रकट करके वे मेरी ओर देखकर कुछ सकुचा गए और कहा, "इतनी बड़ी हो गई !

उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर मुझे पास खींच लिया और कहा, "वारिणी !"

मैं देवी, भट्टारिका, महारानी आदि शब्द सुनने की इतनी आदी हो गई कि जब कभी वे मुझे मेरा नाम लेकर पुकारते, तब मुझे लगता कि वे सारे व्यव धान दूर करके मुझसे बातें कर रहे हैं। उस समय मेरा मन उमड़ उठता। उस समय यदि लज्जा मुझे न रोकती, तो मैं स्वामी न कहकर, उनसे कहती, "प्राण ! मेरे प्राण !"

पर वह संकोच मैं कभी नहीं जीत सकी। मन ही मन दुहराती रही हूं प जीभ पर जाने क्या अटक लग जाती थी ! मैंने कहा कुछ नहीं, केवल देखा। जानती हूं मेरे ऐसे नयन कुछ कहते हैं, क्योंकि वे बहुत पास के स्वर में बोलने लगते हैं; जब हम केवल स्त्री-पुरुष होते हैं।

बोले, "समय कितनी जल्दी बीत जाता है वारिणी !"

समय ! मुझे उस अव्यक्त सत्ता के प्रति भय हुआ। वह कभी अपने रूप में नहीं दीखता, दूसरों के परिवर्तन में दिखाई दिया करता है।

फिर कहा, "सचमुच ! हमारे विवाह को कई वर्ष बीत गए। पर कुछ पता ही नहीं चल सका। धारिणी ! मैं बहुत सुखी हूं।"

मैंने उनके मुह पर हाथ रख दिया भय से। कहा, "स्वामी ऐसा न कहें।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि दैव कहीं सुन न लें।"

वे हंसे। तब मैं भी हंस पड़ी।

"बिटिया कितनी छोटी-सी थी ! अब वह ब्याह के लायक हो गई है। चली जाएगी !"

और उन्होंने एक लम्बी सांस ली। आखों में आंसू-से आ गए। मैंने कहा, "छिः स्वामी ! क्या करते हैं, लोक में जो होता आया है, वह क्या नहीं होगा ?" यह कहते हुए जाने क्यों मेरी भी आखें भर आईं और मैंने कहा, "लड़की पराया धन है, यह क्या सनातन से नहीं कहा जाता ?"

"फिर ? फिर हम-तुम रह जाएंगे। केवल दो !" स्वामी ने कहा, "इतने दिन जो जीवन का एक त्रिकोण बन गया था, वह नहीं रहेगा हमारे साथ।"

मैंने कचोट को समझा और कहा, "स्वामी। अङ्गदेश का क्या होगा ? इसका उत्तराधिकारी कौन होगा ?"

वे नहीं बोले।

मैंने ही कहा, "पुत्री का विवाह करने के बाद, आप एक और विवाह कर लें। शायद वह स्त्री आपको एक पुत्र दे सके !"

"क्या कहती हो !" स्वामी ने मुझे अपने वक्ष से लगाकर कहा, "निष्ठुर ! कैसे कह सकी तुम ! क्या राज्य मेरे हृदय से भी बड़ा है ? उत्तराधिकार की तृष्णा क्या मेरे प्यार से भी बडी है ? तुम मेरी पत्नी हो धारिणी ! तुम्हारे रहते क्या मैं ऐसा कर सकता हूं !"

मैं कांप उठी।

उन्होंने मेरा कंपन जान लिया और हंसकर कहा, "कांप उठी ? 'तुम्हारे

रहते', शब्दों को सुनकर ? प्रिये ! तुम अब एक शरीर नहीं हो। तुम मेरी आत्मा में समा गई हो। तुम न भी दिखो मुझे बाहर, पर भीतर से कैसे निकल सकोगी ? मेरे मन में जो बैठ गई हो !"

वह क्षण कितना मादक था। मैं रो उठी अपने हर्ष से। एक स्त्री के जीवन की और सार्थकता ही क्या है ? उसका पति उसकी सत्ता को पार्थिव से ऊपर अनुभव करके अपने भीतर चेतना के रूप में आत्मसात कर चुका था।

हमारा प्रेम एक संवेदना है, जो किसी मूर्त आधार को लेकर प्रारंभ होता है। वह मन में पलता है और रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। मैं उसको देखती हूं तो लगता है कि मेरी सत्ता केवल एक उसकी भावना-मात्र है, क्योंकि सुख और दुःख उसके भीतर ही अपना समावेश कर लेते हैं।

प्रकोष्ठ की नीरवता में हम दोनों बैठे रहे। मुझे याद है, हमने अनेक बार अपने एकांत में ऐसे ही नीरव क्षण व्यतीत किए थे। आंगिक चेष्टाएं जब शिथिल हो जाती हैं, उसके उपरांत मन चलने लगता है, किंतु एक सीमा ऐसी भी आती है जब मन अनुभव करता है कि वह भीगकर बहुत भारी हो गया है, बहुत सिक्त हो गया , तब वह भी अपनी गति को भूल जाता है। उसे ही प्रेमी लोग तृप्ति कहा करते है, जब कहने और सुनने को कुछ भी शेष नहीं रहता।

वातायन से आता प्रकाश अगरुधूम पर पड़ता, जिसकी लहरियां बिखरतीं और निस्तब्ध-सी प्रकोष्ठ में विलीन हो जातीं। जब उनका रूप अरूप हो जाता, तब उनकी गंध उनका अस्तित्व प्रकट करने लगती।

लोक का प्रसार जब सब जगह से सिमटकर नयनों में आकर केन्द्रित हो जाता है, तब मन अपने-आपको समर्पित कर देना चाहता है। ऐसा ही तो हो गया था उस समय मेरा हृदय।

मुझे लग रहा था कि मेरा जीवन सार्थक था। लोक की मर्यादा का एक सत्य होता है, जो आवश्यकताओं से जन्म लेता है। आवश्यकता भूत, वर्तमान और भविष्य को देखकर अपने विवेक को स्थिर करती है। हम सदैव उसीके अनुकूल तो चला करते हैं। किंतु जिस क्षण में मनुष्य उस विवेक को छोटा समझने लगे, उस समय वह क्या हो जाता है ? [illegible] ??

ी तो पैदा करता है ! उस समय ही जान पाई मैं और मैंने देखा कि प्रेम दु ख के प्रति नुष्य की लडाई थी; स्त्री मे वही प्रेम बनता है जो पुरुष में वैराग्य। एक जीवन रि लोक का सामंजस्य है, दूसरा व्यक्ति और लोक का अलगाव। क्योंकि स्त्री ा शरीर परंपरा को बाधनेवाली कड़ी है, वह सामंजस्य है; क्योंकि पुरुष का शरीर क साधन-मात्र है; जिसे अपनी सार्थकता नहीं मिलती, वह अपना पूर्णत्व और कसी तरह से सोचता है। स्त्री अपनी गोद भर जाने पर निहाल हो जाती है, रन्तु पुरुष अपने को वही पूर्ण नहीं समझता। स्त्री का अहंकार ममता बनकर ये जीवन के लालन-पालन और विकास में अपना समर्पण कर देता है, परन्तु रुष की वासना क्षणिक होती है, वह समर्पण नहीं कर पाता। वासना के अन्त ं स्त्री आनन्द लेती है और वह आनंद उसके जीवन का नया रूप बन जाता है। रन्तु पुरुष की वासना का अंत उसकी शक्ति का क्षय होता है !

अपने पशुत्व के आवेश को मनुष्य ने कितने-कितने नाम दिए हैं कि मैं सोच ही पाती। हम जिसे विवश होकर करते हैं और प्रकृति के जिस धर्म को हमने प और बंधन कहकर स्वीकार किया है, उसीको वैसे कितने आदर्श शब्दों में ांधने का भी प्रयत्न किया है !

और तब मुझे ध्यान आया। कहा, "स्वामी ! विवाह के बाद वसु चली ाएगी न ?"

"हां, वह चली जाएगी !"

"फिर हम दोनों रह जाएंगे।"

वे नहीं बोले। केवल आखें भीग आई।

फिर हंसकर कहा, "वसु को तो इससे दुःख नहीं होगा ?"

"कैसे भला ! घर छोड़ते हुए क्या कन्या को दुःख नहीं होता ? जिनके सग चपन से रही, उन सबको छोड़ते हुए क्या उसे वेदना नहीं होती ? स्त्री-जन्म क्या च्छा होता है जो उसे इतने दुःख को सहज और स्वाभाविक कहकर स्वीकार रना पड़ता है !"

"यह तुम झूठ कहती हो देवी !" महाराज ने कहा, "याद करो, जब तुम आई ीं। क्या तुमने मुझसे नहीं कहा था कि विवाह के बाद तुमने अधिक संतोष प्राप्त

पवित्र प्रेम नहीं हो सकता ? परंतु विवाह होता ही है लिंगभेद से । प्रेम का पूर्णत्व दो भिन्न लिंग के प्राणियों में ही माना जाता है । और यथार्थ का सत्य यह है कि पति से पत्नी का केवल मन का प्रेम नहीं होता । होता है शारीरिक भी । पुरुष स्त्री को अपने आनंद साधन के लिए लाता है, और स्त्री आती है अपने पेट के लिए । परंतु क्या यही सत्य है ? क्या स्त्री उस आनंद-साधन में पुरुष को अपना एक साधन ही नहीं मानती? क्या स्त्री के मन के प्रेम की पूर्णता उस शारीरिक संबंध के बिना ही जीवित रह सकती है ? यौवन क्या दोनों ओर एक-सा नहीं पलता ? आगे चलकर बुढ़ापा और संतान—दोनों अपना संतुलन करते हैं । ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि बुढ़ापे में सहारे की जरूरत होती है । और इसलिए स्त्री अपने पुत्र पर आश्रित होती है । पुरुष तीनों अवस्थाओं में स्त्री की ही भांति होता है, परन्तु वह फिर भी अपने को असहाय नहीं मानता । क्यों ? क्योंकि वह स्वयं यौवन में अर्जन करके अपने बुढ़ापे का इन्तज़ाम कर लेता है । इसीलिए लोक में पुत्र की कामना होती है ।

कन्या का व्यर्थत्व इसीसे प्रमाणित होता है कि वह जब बड़ी होती है, तब अपने पालनेवालों को छोड़कर पराये पुरुष के साथ चली जाती है । और जब उसके बच्चे हो जाते हैं, तब उसे जितने प्यारे वे बच्चे लगते हैं, उतना उसे और कोई नहीं लगता ।

मैं एकदम घबरा-सी गई मन ही मन । यह मैं इतनी जल्दी इतना सब कैसे सोच गई । क्या था मेरे हृदय में जो मैं ऐसी उथल-पुथल में जा पड़ी ! यही न, कि मेरी कोख से किसी पुत्र ने जन्म नहीं लिया था । अपने स्त्रीत्व की पूर्णता मैं प्रमाणित नहीं कर सकी थी ।

प्रेम वासना है या अमूर्त कल्पना, यही मेरे सामने आने लगा । मैं पति को पुत्र नहीं दे सकी, तो क्या मैं अपने-आप में कुछ नहीं थी? मन के भीतर से किसी चोर ने कहा, 'धारिणी ! सत्य को सिर उठाकर देख । यह बता कि यदि तेरे पति नपुंसक होते, तो क्या उनके पौरुषविहीन व्यक्तित्व से अपने को बांधे रह सकती थी? पुरुषदेह से जब तू पुरुषधर्म की आकांक्षा करती है, तब स्त्रीदेह से पुरुष ही स्त्रीधर्म की आकांक्षा क्यों न करे ?' तब मैं झनझना उठी । तो प्रश्न उठा कि देहधर्म ही तो सब कुछ नहीं है ? विवाह देहधर्म को यंत्र की भांति नहीं चलाता, वह एक प्रेम

नहीं कह सकोगी ! यही भय है न तुम्हें ? तो अपनी कहो ! परंतु यह अवश्यम्भावी है कि मरना तुम्हें भी है। फिर तुम क्यों डरती हो ? स्त्री इतनी समर्थ क्यों नहीं बन जाती कि वह अपना पेट स्वयं भर सके ? अबला क्यों बनी रहती है वह ? कहते हैं प्राचीनकाल में एक राजा दुष्यंत था, जिसने अपनी स्त्री शकुंतला को गर्भ की अवस्था में छोड़ दिया था। तब उस स्त्री ने स्वयं पुत्र को पालकर महापराक्रमी बना दिया था। स्त्री में क्या सामर्थ्य नहीं है ? वह अपने आराम के लिए अपने को पुरुष पर डाल देती है और फिर इतना भार डालकर दिखावा करती है कि वह स्वयं दुखी है। यदि स्त्री विवाह न करे तो वह दुखी कहा है ? क्या ज़रूरत है उसे विवाह की, जब वह यह मानती है कि पुरुष उसका योग केवल शारीरिक वासना मिटाने को करता है ! क्यों बनती है वह पुरुष की दासी ? वीरता से सामना क्यों नहीं करती ? क्यों वह संतान की इच्छा करती है, जब वह जानती है कि वह पराधीन ही है ? 'मैं इसके लिए पति ढूंढूंगा' कहनेवाला पिता जब चलता है, तब पुत्री क्यों नहीं कह देती, 'पिता ! मैं यहीं रहूंगी। मैं विवाह नहीं करूंगी। मैं पुरुष की भोग्य नहीं बनना चाहती। मैं काम करूंगी, कमाऊंगी खाऊंगी।' स्त्री वासना की दासी नहीं, पुरुष ही है लोलुप वासना का दास !"

वे कहते रहे, मैं सुनती रही। परंतु वे जैसे बोल रहे थे, उससे उनके बारे में मैं यही सोच पाई कि वे केवल सोच रहे थे, ठंडा था उनका विवेचन। आवेश नहीं था उसमें।

उन्होंने फिर कहा, "धारिणी ! तो सचमुच स्त्री के साथ अत्याचार होता है और स्त्री इसको सहन करती है ? क्यों ? हां, तुम स्वयं कह चुकी हो कि वह ऐसा करने को विवश है ! तो धारिणी ! यदि स्त्री और पुरुष विवाह ही न करें तो ?"

मैं अचकचा गई। कहा, "छिः स्वामी ! ऐसा कैसे हो सकता है ? सृष्टि कैसे होगी !"

"सृष्टि ! क्या मतलब ? संतान ?? उसकी ज़रूरत ही क्या है ?"

मैं उत्तर नहीं दे सकी। मेरे पति के चिंतन में केवल कल्पना ही है, यह मुझे तभी पता चला। और ऐसा आदमी राजा था !

"दासत्व है यह," स्वामी ने कहा, "यह निश्चय ही दासत्व है। तुम मानती

हो कि मरने के बाद पुत्र जब तर्पण करता है तब पितरों की तृष्णा मिटती है? मैं नहीं मानता। यदि पुत्र के कर्म से पिता का तारन होता है, तो पिता का कर्म अपना फल क्या पाता है? धारिणी! मनुष्य इसी परलोक के अनजाने विवश विश्वास के कारण चलता चला जा रहा है। जब आत्मा स्त्री और पुरुष दोनों ही के शरीरों में समान है, तब लोक की वेदनाएं और संज्ञाएं भी बाहरी और पार्थिव आकृतियों तक ही सीमित हैं। लोक में सब सत्य और शांति के मार्ग खोज रहे हैं। अनेक युवक अपने-अपने घर-बार छोड़कर पथों, वनों और निर्जनों में घूम रहे हैं। सब कुछ दुःख में डूबा हुआ है। वासना के कारण ही स्त्री और पुरुष का द्वंद्व है, क्योंकि दोनों ही एक-दूसरे पर पूर्ण अधिकार चाहते हैं!"

मैं मन ही मन घबरा उठी क्योंकि मैंने उनके स्वर में एक बहुत ही कठोर ठंडापन पाया।

"अधिकार!" मैंने बात को टालना चाहा, "नहीं स्वामी! रसोई के बर्तन हमेशा टकराकर खनखनाते हैं, परंतु उससे क्या होता है। मैं तो आपकी परीक्षा लेती थी कि कहीं मैं पुत्र को जन्म न दे सकी, इससे आप मुझसे घृणा तो नहीं करते?"

"तो तुम्हारे अंदर एक चोर था अवश्य! पुत्र को जन्म न दे पाने के कारण तुम स्वयं कुछ अभाव अवश्य अनुभव करती हो! है न यही बात?"

और मैं 'ना' न कर सकी। पता नहीं क्यों, पुत्र की माता हुए बिना मैं अपने को सचमुच सार्थक नहीं समझती! क्या हो जाएगा यदि मेरे पुत्र भी हो जाए तो!

जब मैं अपने प्रासाद में आ गई, मेरा मन रोने की इच्छा करने लगा। पर मैं रोई नहीं। श्यामला आई और मुझे देखा। मैंने इंगित किया तो श्यामला बैठ गई। उसने कहा, "देवी! राजकन्या ने नगर में अनेक लोगों को दीन-दुखी देखा तो दान की आज्ञा दे दी।"

मैंने कहा, "सच, बिटिया का मन बहुत बड़ी करुणा से भरा है।"

"देवी! बिटिया को बाहर न जाने दिया करें!"

मैं चौंकी। कहा, "क्यों श्यामले!"

"बिटिया का मन नरम है। है न?"

"होगा ही। उसे बुराई सिखाई ही किसने है? उसके पिता को तो तू जानती ही है। अपने कल्पना-लोक में रहते हैं।"

"परंतु राज्य तो राज्य है देवी! अच्छी गिरस्ती के मालिक को भी सारी शान रखना पड़ता है। 'आप भले तो जग भला' वाली बात क्या सचमुच काम आती है? दुनिया में तो तरह-तरह के लोग होते हैं! होते हैं न?"

उसका अंतिम प्रश्न मेरे सामने उसकी भौंहों में ऊपर उठकर ठहर गया। मैंने कहा, "लेकिन हुआ क्या?"

"हुआ यही! दान की आज्ञा हुई।"

"तो अच्छा ही तो है श्यामले! जिसके पास है वही तो देगा। करुणा को तो संचय से बड़ा कहा गया है!"

"परंतु करुणा कहां तक देवी! सबकुछ लुटाकर? शिवि बनाना हो दुहिता को, तो और बात है। मैं फिर ठहरी दासी! मुझमें न इतनी बुद्धि है, न इतना साहस कि टोक सकूं। परतु बचपन से बिटिया को पाला है, इसी कारण कहती हूं और कहती भी वही हूं जो लोक में होता है। आगे उसकी अच्छाई-बुराई के बारे में आखिर सोच भी कितना सकती हूं? मेरी बुद्धि ही कितनी!"

"क्या दान देने को कहा उसने?"

"यही कि कोई दरिद्र न रहे। राजकोष से इन्हें धन दिया जाए।"

"पर वह तो महाराज ही कर सकते हैं श्यामले!" मैंने हंसकर कहा, "और महाराज सदैव परिषद् से सलाह करके काम करते हैं!"

"यही तो कहती हूं देवी! यह आज्ञा पूरी न होगी तो दुहिता को दुःख पहुंचेगा। यह सोचकर मैंने तभी कह दिया राजकन्या से कि यह तुम्हारे अधिकार की बात नहीं है। राजकन्या को इसमें अपमान-सा लगा। कहा, 'क्यों? इसके लिए स्त्री नहीं बोल सकती!'"

"क्या कहा!" मैंने चौंककर पूछा।

"देवी! वहां एक स्त्री थी। उसका पति छोड़ गया था उसे। उसके छः बच्चे थे। राजकुमारी के चरणों पर आ गिरी। भूखे थे सब। राजकन्या ने कहा

तुझे छोड़ गया तो रोती क्यों है ?' वह बोली, 'क्या करूं, ये बच्चे भूखे रहते हैं। इनके लिए क्या करूं ?' राजकन्या ने कहा, 'तू इनकी चिंता क्यों करती है, जैसे वह पिता होकर छोड़ गया, तू भी छोड़ दे।' वह बोली, 'परंतु मां तो मैं हूं।' यह सुनकर राजकन्या ने मुझसे कहा, 'श्याभला अम्मा ! मां होने से क्या हो गया ?' मैंने कहा, 'राजकन्ये ! अभी आप नहीं समझेंगी। मां कैसे छोड़ देगी उन्हें ?' परंतु वे नहीं समझ सकीं। उस स्त्री से बोलीं, 'तू असहाय क्यों बनती है री ! तू भी अपना प्रबंध कर ! जब वह छोड़ गया तो तू भी छोड़ दे। स्त्री भी समर्थ बनेगी, तभी पुरुष का अत्याचार बंद होगा।' देवी ! हमारा सारथि है न बूढ़ा खलिक। बोला, 'राजकन्ये ! मां की ममता को तुम नहीं समझोगी।' राज-कन्या ने रथ आगे बढ़वा दिया। हम मना करते रहे, पर वे न मानीं। रथ मर्जी से ढ़वा ही तो दिया। तब क्या ? फिर वेश्याओं का वेश मिला ! भला देवी ! वह जगह राजकन्या के जाने की है ? वहां कभी भले घर की स्त्री गई है ? परंतु राज-कन्या ने वेश्याएं देखीं तो बोलीं, ये कौन हैं, ऐसी रंगी-पुती हैं ?' मैंने कह 'वेश्याएं हैं।' बोलीं, 'अच्छा यही हैं वे स्त्रियां जिनके बारे में पुस्तकों में लिखा कि ये किसीकी नहीं होतीं। अपने को धन के लिए बेचती हैं !' देवी ! मैं व उत्तर देती। मैंने कहा, 'यह तो अपना-अपना भाग्य है राजकन्ये!' तो राजकुम ने कहा, 'पुरुष स्त्री को ऐसा भी रखता है। स्त्री क्यों स्वीकार करती है इसे मैंने कहा, 'राजकन्ये ! पेट कराता है सब। क्या करें ? ये परम्परा से यह करतीं हैं। बिचारी मजबूर हैं।' राजकन्या ने कहा, 'तो मर क्यों नहीं जातीं !' भला मरना आपने देवी ! राजकन्या ने कहा, 'तो मर क्यों नहीं जातीं !' भला मरना सहज है ? मैंने यही उनसे भी कह दिया। बोलीं, 'अच्छा ! मरना सहज नहीं है सेना में इतने पुरुष जो इकट्ठे होते हैं, वे क्या मरने के लिए ही नहीं होते ? ही पुरुष स्त्री से अधिक वीर होता है। स्त्री मरने से अधिक डरती है। पेट पुरुष मरना स्वीकार करता है, स्त्री अपनी देह को बेचती है। पुरुष ही तभी वह शासन करता है।' "

पति के शब्द मेरे कानों में, श्याभला की बात सुनते ही, गूंज उठे, इसके लिए पति ढूंढूंगा !' यह कहते हुए पिता जब उठता है तब वह

वसु देवी, 'कि, नहीं ! मैं विवाह नहीं करूंगी ।'

यह क्या हो रहा था, मेरे सामने !

सुनामा आई । प्रणाम करके बैठी ।

मैंने कहा, "सुनामा ! तुम आई ?"

"हां देवी !"

"राजकन्या, सुना है, दु:खी हुई है । क्यों ? है न ?"

"हां देवी ! कहती थी कि स्त्री का जीवन बहुत दु:खदायी है ।"

और मैं इस बात को नहीं काट सकी । क्या था मेरे मन में ? अवश्य श्यामला ने कहा, "श्रेष्ठिकन्ये ! राजकन्या से पूछ कि विवाह हो जाएगा तो राजकन्या क्या करेंगी फिर ?"

जब वसु से सुनामा ने कहा, "सखी ! श्यामला कहती थी कि विवाह हो जाने पर स्त्री बदल जाती है, फिर वह अपने घर की ही चिंता करती है ।" तो राजकन्या ने कहा, "ऐसा क्यों होता है सुनामा !"

सुनामा ने कहा, "मैं क्या जानूं ?"

वसु सोच में पड़ गई ।

फिर सोचकर कहा, "सुनामा ! विवाह में अवश्य मन छोटा हो जाता है ।"

"तुम नहीं करोगी जैसे ?" सुनामा ने हंसकर कहा और बड़ी चाव से देखा । लड़की को तो विवाह में बड़ी भारी रुचि जो होती है ।

वसु ने कहा, "विवाह ? नहीं । मैं नहीं करूंगी ।"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह एक बंधन है ।"

"बंधन क्यों ?"

"स्त्री स्वतन्त्र नहीं रहती न ?"

"मां स्वतन्त्र नहीं है ? राजमाता स्वतंत्र नहीं है ?"

सुनामा का प्रश्न सुनकर वसु चुप रह गई ।

"बोलती क्यों नहीं ?"

"मैं नहीं जानती ।"



"मां तो कभी ऐसा नहीं कहती कि वह दासी है। उलटे दास-दासियों को खू
ःटकार कर रखती है।"

"तू क्या जाने वास्तविकता क्या है ?"

सुनामा नहीं समझी।

बोली, "क्या है बता दो न ?"

"सब स्त्रियां अपने पतियों के अधीन होती हैं।"

"क्यों ?"

"ऐसा ही होता है सुनामा।"

"तुमसे किसने कहा ?" सुनामा ने पूछा। वह समझ नहीं पा रही थी
उसके लिए विवाह खेल था गुड़ियों का।

उसने मुझसे आकर पूछा, "देवी ! एक बात पूछूं ?"

"पूछ बालिके !"

"देवी ! क्या आप अधीन हैं ?"

"कैसी अधीन ?" मैंने चौंककर पूछा।

"राजकुमारी कहती हैं न ?"

"क्या कहती है ?"

"कि आप महाराज के अधीन हैं।"

मैं मन ही मन सकुचा गई, पर हंसकर कहा, "और महाराज के अधीन कं
नहीं है ? सारा राज्य ही उनके अधीन है।"

"वह नहीं अम्ब !" उसने कहा, "वह और बात है। आप महारानी तो
ही, पत्नी भी हैं न ? आपके पति महाराज ही हैं न ? आप पति के अधीन हैं !

मुझे बहुत विचित्र-सा लगा। यही बात मैं कहूं, मैं सोचूं, वह और बात ं
पर वह बालिका कहे तो मुझे कैसा-कैसा न लगेगा ! अजीब-अजीब-सा ही न
फिर यह है बालिका। इसका जीवन अभी मधुर है। किसी प्रकार के कल्मष
छाया इसमें नहीं है। कैसे क्या कह दूं। सोच नहीं पाई। वसु के प्रति मन
अज्ञात भय हो गया।

सुनामा ने फिर पूछा। तब मैंने कहा, "एक बात पूछूं बिटिया ?"

"हां देवी अम्ब !"

"तू मां की बेटी है न ?"

"और नहीं तो !"

"मेरी भी है ?"

"हां आपकी भी !"

"तो हम इस प्रकार की देह क्यों पाते हैं ?" मैंने पूछा।

"पाते हैं।" बालिका ने कहा, "मां कहती थी कि उन्होंने मुझे एक राजहंस से पाया था। राजकन्या को भी हंस दे गया होगा ! सुनहला हंस !"

उफ ! मैं क्या पूछ रही थी इससे। सुनामा तो अपनी आयु की लड़कियों से भी कम जानती है ! फिर भी पूछा, "तू मां के अधीन है बिटिया !"

"मां डांटती तो है।"

"तुझे प्यार नहीं करती ?"

"क्यों नहीं करती !" बालिका ने कहा।

यह है कर्म का फल ! मैंने सोचा। शायद दो बरस छोटी है यह बालिका मेरी वसु से। ऊटपटांग नहीं सोचती ! पर वसु के इस निर्माण में मेरा और मेरे स्वामी का कितना हाथ रहा है, यह क्या मैं सहज जान पाऊंगी ?

"तो जो प्यार करती है, उसकी अधीनता तुझे बुरी लगती है ?"

"नहीं देवी अम्ब !"

"जा वसु से कह दे। पति और पत्नी का भी ऐसा ही संबंध होता है।"

वह चली गई और दूसरे दिन मेरे पास आकर बैठकर बोली, "देवी अम्ब ! एक बात तो बता दो। वसु ने पूछा था मुझसे। पूछू, कौन बनाता है ऐसी सृष्टि ? बताओ।"

मैंने देखा। लड़की मुझसे उसी भोलेपन से बोली, "बता दो, मगर कहना नहीं वसु से कि आपने बताया है। मैं एकदम चौंका दूंगी उन्हें। जब भी बात करती हैं वे तब मुझसे कहती हैं, 'तू नहीं समझेगी सुनामा ! यह बड़ी गहरी बात है,' भला देवी अम्ब ! मैं क्यों न समझूंगी ? हां, सोच द...

मैंने कहा, "बिटिया ! यह सृष्टि ? यह तो ईश्वर ने बना...

बस···बस···कहती हुई लड़की दौड़ गई। उस समय वसु कबूतरों के बीच बैठी दाना डाल रही थी और सुंदर पारावतों की गुटुरगूं-गुटुरगूं सुन रही थी।

उसने जाकर कहा, "राजकन्ये ! बता दूं ?"

"बता सुनामे !"

"ईश्वर !"

"कौन भोगता है यह दुःख ?" वसु ने कहा, "ईश्वर ने इतने भेद क्यों बनाए ?"

सुनामा ने कहा, "भेद कहां बनाए ?"

"यह देख, कितने रूप हैं !"

"तो क्या सब एक-सा होना चाहिए था ?" और सहसा ही वह खिसिया गई और कह उठी, "हुं ! ईश्वर क्या हम-तुम जैसा ही है ? अरे ईश्वर ईश्वर है !"

उसका यह रोष देखकर मैं, जो स्तंभ के पीछे से देख रही थी, अपनी मुस्कराहट नहीं रोक सकी। परंतु वसु ऐसी गंभीर बैठी रही कि कुछ पूछो नहीं। उसने सिर हिलाकर कहा, "ईश्वर होता तो यह सब ऐसा नहीं होता। नहीं, ईश्वर कुछ नहीं होता।" उसको देखकर सुनामा ने मुंह बनाया, पर वसु पर प्रभाव नहीं पड़ा। उसका यह रूप मुझे कुछ डराने लगा।

फिर सोचा। इस आयु का प्रभाव ही ऐसा पड़ता है। जब मैं इतनी बड़ी थी तब ऐसी ही तो थी। और भी पुरानी याद है मुझे, जब मैं तीन साल की थी। पूछा करती थी अपनी धात्रेयिका से रात को आकाश की ओर देखकर, "यह छाकाच में नतत्तव हैं न ?" ये सारी बातें मुझे बाद में धात्रेयिका ने ही याद दिलाईं। छाकाच मेरी भाषा में आकाश था। नतत्तव था नक्षत्र। मैं पूछती थी, "यह कितना ऊंचा है छाकाच ?" धात्रेयिका कहती, "बहुत ऊंचा है, बहुत ऊंचा है। महाशंख ऊंचा है।" मैं कहती, "महाछंख !"

यह उसी महाछंखवाली की कोख से जन्मी बेटी ही तो है। आज सोचती हूं तो लगता है कि हर आयु पर मनुष्य अपनी बुद्धि की सीमा के अनुसार सृष्टि की अपार कथा को सुलझाने का प्रयत्न करता है। पर पार वह कहां पाता है ? यदि इसी एक रहस्य को पा लिया होता तो मनुष्य का जीवन इतने वैविध्यों में क्यों संत्रस्त होता ?

सीधी है और विचारवान भी। अन्यथा लड़कियां तो पहले ही से अन्य स्त्रियों से सब सीख-साख लेती हैं। श्याभला है भी सीधी। शायद बच्ची समझकर कुछ नहीं बताया हो। यों मैंने अपने मन को बहला लिया। अपने पलंग पर ज़रा लेट रही।

सांझ की वेला में श्याभला से कहा, "अरी श्याभले! दुहिता का मन तो स्थिर है?"

"है, देवी! मैंने समझा दिया है। बड़ा आश्चर्य करती थी बिटिया!" धात्रेयिका श्याभेलिका हंसी। वह हंसी कि उसकी आयु का अनुभव हंसा! उसने कहा, "आयु भी कैसी विचित्र है! बचपन भी कितना भोला होता है!"

"तूने बताया नहीं कुछ!"

"स्वामिनी! लड़कियां आप जान लेती हैं। सो मैंने नहीं कहा कुछ।" श्याभला ने कहा, "देवी! कन्या ही तो है, क्या जानें वास्तविकता जीवन की है क्या?"

"अरी मैंने तो तुझे शिक्षा देने को कहा था न?"

"हो जाएगा सब, हो जाएगा।" दासी ने मुस्कराकर कहा, "देवी! यह जगत् बड़ा विचित्र है। दास हो, श्रेष्ठि हो, राजा हो, महाराजा हो; सब होते हैं दैव के अधीन! कोई यह कहे कि राजा के पास सब साधन होते हैं, अतः वह सुखी होता है, तो मैं कहूंगी कि वह नहीं जानता कि राजा भी मनुष्य होता है। उसके वैभव और अधिकार के पीछे जो होता है, वह होता तो मनुष्य ही है न?"

"क्यों, क्या कहती है तू?"

"मैं क्या कहूंगी देवी! काल कहता है। मैं तो सब देखती हूं। सब समझने की चेष्टा करती हूं, पर कुछ समझ नहीं पाती।"

मेरी समस्या कम नहीं हुई। कहा, "पहेलियां क्यों बुझा रही है श्याभला? कहती क्यों नहीं?"

"कहूं क्या?" उसने कहा, "हरएक प्राणी अपना अलग-अलग भाग्य लेकर आता है। कोई लाख-हजार जोड़कर संतान के लिए रख दे, तो क्या निश्चय ही है कि वह संतान के काम आएगा?"

"बता तो बात?"

"यही राजकन्या की कहती हूं।"

"क्यों, क्या हुआ ?"

"हुआ कुछ नहीं, पर सब अजीब ही तो है।"

श्यामला उसकी बातें बताने लगी।

"पूछती हैं, 'स्त्री को ही यह है कि पुरुष को भी ?' मैंने कहा, 'स्त्री को ही।' 'तो ऐसा क्यों होता है ?' 'होता है कि देह का धर्म है।' 'यह धर्म किसने बनाया ?' मैं क्या उत्तर दूं इसका! 'स्त्री क्या पुरुष की दासी है तो इसी कारण?' भला बताओ, इसका स्त्री के दासत्व से क्या संबंध ? और मैं पूछती हू कि स्त्री पुरुष की दासी है कहां ? यह कौन मूर्ख कहता है देवी ! पुरुष लाए कमाकर ; खिलाए-पिलाए, तो बात भी न कहे ? दुनिया मे कुटिल व्यभिचारी कम हैं? पुरुष ही तो स्त्री को सबसे बचाता है। पर नहीं। राजकन्या को, यह बात, समझ मे ही नही आती। विवाह की सुनेंगी तो कहेंगी, 'तो जाना पड़ेगा ? स्त्री ही घर छोडकर क्यो जाए ?' मैं क्या उत्तर दू इसका। वही बात हुई न ? कि पडित ने कहा, 'अ, यह बड़ा अ। यह इ, यह बड़ी ई।' 'शिष्य बोला, 'गुरुदेव ! यह अ ही अ क्यो ? मैं इसे इ की तरह लिखूं तो कैसा हो ?' क्या करता गुरु ? बोला, 'बेटा, तू चाहे जैसे लिख ले, पर औरों से जब पाला पड़ेगा तब अ को अ न पढेगा, अ न लिखेगा, तो कोई तेरी बात समझेगा भी नहीं।' देवी ! राजकन्या की मैं आपसे क्या कहूं ! पता नहीं, कहा-कहा से विचार आते हैं उनके पास ! 'स्त्री क्यो नही कमाती ?' भला स्त्री कमाए-गी ! 'पर मैंने कहा, 'राजकन्ये ! मैं किसानो को जानती हू। वहा स्त्री भी खूब काम करती है, पुरुष अकेला नहीं खटता।' पर राजकन्या कहती हैं, 'फिर किसानों में स्त्री क्यो पति के अधीन होती है ?' अरे ब्रह्मा की सृष्टि है। इसका कोई क्या करे ?"

मैंने देखा और सोचा कि लडकी का रोग बढ रहा था।

श्यामला ने फिर कहा, "सुना देवी ! वे कहती हैं कि संतान को स्त्री क्यों पाले ! 'तो कौन पाले,' मैंने पूछा, 'पुरुष !' 'हा, हा, क्यो नहीं,' कहती हैं वे। मैंने कहा, 'अच्छा वह पालता रहे तो बाहर कौन काम करे !' वही बात। एक दम, 'पुरुष क्यों न करे घर का काम ?' 'मैं पूछती हू, संतान का क्या होगा ?' तो कहती है, 'तू क्यों समझती है कि स्त्री ही घर का काम कर सकती है ?'"

"घर का काम करना क्या कोई ऐसी बात है," मैंने पूछा, "कन्या का भाव क्या है?"

"ब्रह्मा भी अपनी कन्या का भाव न समझ सका," श्यामला ने कहा, "सो मैं कैसे समझ लूंगी। तुम्हीं बताओ। 'हम क्यों नहीं मरते अपनी इच्छा से!' यह कोई प्रश्न हुआ। पर मैंने कहा, 'संतान को तो मां पालती है, पुरुष नहीं। पुरुष उन साधनों को जुटाता है जो मां और संतान की जीविका बनते हैं।' तो पूछती हैं, 'स्त्री क्यों पुरुष पर निर्भर होती है? मां बनती है न, इसीलिए? मां क्यों बनती है!' हे ब्रह्मा! इसका उत्तर है स्त्री-देह का धर्म! तो देह के लिए किसी पर आश्रित हो जाना क्या अपने आत्मसम्मान की रक्षा है? अब बस! बहुत हो गया। व्याह कर दो ऐसी बिटिया का। आप समझा लेगा इसको इसका पति। देवी! सुन लो अच्छी तरह! सुन लो। महाराज से कह दो। बेटी कहती है कि व्याह नहीं करेगी।"

"व्याह के विरुद्ध है?"

"और क्या! स्नान करके तो नयी-नयी सूझ रही है। अब क्या करूं मैं! अच्छी बुद्धि दी है ब्रह्मा ने, जाने क्या होगा।"

मैं सोचने लगी, 'तो क्या यह जगत् अब स्त्री और पुरुष दो भागों में विभाजित होगा?'

मैं हंस पड़ी। सोचा, 'इसे पुरुष की कल्पना ठीक नहीं है। परन्तु इतने सहिष्णु पिता के रहते हुए भी इसकी पुरुष के प्रति ऐसी धारणा क्यों है! और हठात् मैं उलझ गई। ऐसा देवोपम पति पाकर भी क्या मैंने उनको दुःख नहीं दिया है? मेरी बातें क्या हैं? पुरुष पर एक तरह के अहसान की बात ही तो मैंने उनसे की है! कोई और पुरुष होता तो क्या वह इस सबको सह जाता? पर मैं नहीं जानती, मैंने उनसे ऐसी बातें क्यों कीं! क्या मैं नादान थी, या वह सब मेरा थोथा अहंकार था! मैंने यही तो कहा है कि मैं वही करूंगी जो तुम्हें सुख दे, जो तुम्हे अच्छा लगे; क्योंकि तुम्हारी पत्नी हूं, और पत्नी का यही तो कर्तव्य है! परंन्तु वे यह सुनकर कभी तृप्त नहीं हुए। सूने से मुझे देखते ही तो रह जाते थे।'

महाराज से जब मैंने वसु के ये विचार कहे, वे एक बार पलक उठाकर छत

की तरफ देखने लगे। वे किसी सोच में डूब गए, परंतु उस सोच में उद्विग्नता नहीं दिखाई देती थी। ऐसा लगता था जैसे जिस जल में थे, उसमें केवल थोड़े और गहरे उतर गए थे। इतना-भर ही तो था, और तो कोई हलचल मुझे नहीं दिखी।

मैं समझी थी वे घबराएंगे। कहेंगे, "धारिणी! यह क्या हुआ? लड़की को समझा।"

पर ऐसा कुछ नहीं हुआ।

मैंने कहा, "स्वामी!"

उन्होंने मुझे देखा और मुसकराए। तब मैंने कहा, "आप तो सोच में पड़ गए। ऐसी बात ही क्या है? लड़की है, नासमझ है।"

"तुम ठीक कहती हो धारिणी! परंतु नई आयु का विचारक बहुत ईमानदार होता है! बहुत ईमानदार! अपने स्वार्थ से वह समझौता करना नहीं जानता। यही सोचती हो न?"

"क्या सोचती हूं स्वामी! क्या कहूं। नहीं जानती।"

"क्यों?"

"मैं कुछ नहीं समझती।"

"इसीलिए तो वसु प्रश्न करती है। उसको उत्तर तो देना ही होगा।"

"क्या उत्तर देंगे उसे?"

"सोचता हूं प्रिये कि वसु जो प्रेम की नई विवेचना करती है, वह क्या वही नहीं है जो शताब्दियों से स्त्री-पुरुष सोचते आ रहे हैं और उसका उत्तर नहीं दे पा रहे हैं। है न यही बात?"

मैं चुप रही। उन्होंने स्वयं कहा, "एक बहुत बड़ा घेरा है देवी!"

"घेरा?"

"हां, घेरा! और हम उसमें ही अपनी आंखें खोलते हैं और उसीमें आंखें बंद कर लेते हैं। आंख खोलने का नाम जन्म है, बंद करने का नाम मृत्यु है। मनुष्य की देह का इतना ही धर्म है। आत्मा का मेल फिर भी चलता रहता है, ठीक कहती है वसु! मेरी बिटिया वाचक्नवी गार्गी जैसी विदुषी निकलेगी! तुम देख लेना। उसने असली सवाल उठाया है। सुलभा ने पूछा था न जनक से! ममत्व! इसका

स्थान ! स्त्री और पुरुष में भेद ही क्या है ? आत्मा तो एक है ! भेद है शरीर का। शरीर के ममत्व में माया है। है न ? वसु ने वही पूछा है। साधु ! मेरी लड़की ! कितनी चतुर है। सचमुच उसकी बातें सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है।"

'हे चूलकोका यक्षी ! यह क्या हुआ ?' कह गई मन ही मन !

"पर वसु विवाह नहीं करना चाहती।"

"अच्छा ! संयम चाहती है ?"

"संयम कभी हुआ है स्वामी !"

"क्यों नहीं होगा ! सब जगह यही सुनता रहता हूं कि पुरुष ही स्त्री को देखकर विचलित होता है। स्त्री उसे बुलाती है ! पर जब स्त्री ही नहीं बुलाएगी, तो फिर डर ही क्या है ?"

स्वामी ने मेरी ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देखकर कहा, "जानती हो ? प्रजनन क्या है ? कर्मजाल का विस्तार। और कुछ नहीं। है न ?"

मैं स्तब्ध रह गई। ये बाप और बेटी क्या कह रहे हैं ? कौन-सी दुनिया की बातें हैं ये !

मैंने कहा, "और प्रजनन न होगा तो लोक कैसे चलेगा ?"

"नहीं चलेगा, पर चले भी क्यों ? तुम पूछोगी मुझसे कि लोक में एक जो पवित्रता है मातृत्व में, वह कहां रही ? पर यह पवित्रता क्या है ? कुछ नहीं। मन का विभ्रम ! आत्मा का पूर्णत्व, कर्मविहीन होकर निष्कलंक, अकल्मष, पवित्र होना, जन्म और मरण के चक्र से बाहर निकल जाना है। उसकी पवित्रता की साधना ही लोक का रुक जाना है।"

"स्वामी ! यह क्या आत्महत्या नहीं ?"

"आत्महत्या ! क्यों ? पुरुष जब तक बीज है तब तक हर तरह से स्त्री क्षेत्र ही तो है ! पर जब स्त्री गर्भ धारण नहीं करती, तब वह पुरुष पर आश्रित क्यों होगी ? तब वह घर छोड़कर क्यों आएगी ? संतान ! संतान न होगी तो पुरुष और स्त्री का झूठा ममत्व कहां होगा ? पशुत्व को मनुष्य प्रेम का झूठा नाम क्यों देगा ? मैं तुमसे पूछता हूं कि वसु ने क्या बुरा कहा है ? स्त्री क्या है ? कौन है भोग्य, कौन है भोक्ता ? स्त्री-पुरुष आज द्वंद्व में फंसे हैं। लोक चले, पुत्र हो। पुराने लोग ऐसा

कहते थे, परलोक बनाने को। पर परलोक की वह बात मेरी समझ में नहीं बैठती। पितरों की पूजा क्यों हो? वे अपने कर्मों में फंसे हुए हैं। हमारे संबंध हमारी वासनाओं की विवशता के प्रतीक हैं। हम एक-दूसरे को भोगते हैं, आनन्द प्राप्त करने के लिए। परन्तु आनंद भोग में है ही कहा? वासना किसकी है? पुरुष की भी। स्त्री की भी। स्त्री प्रेम करती है, प्रेम के लिए नहीं, पेट के लिए, और पुरुष! पुरुष प्रेम करता है किसलिए? आनन्द के लिए! आनन्द! किसका आनन्द! पारस्परिक पशुता के आचार में आनन्द का वीभत्स द्वन्द्व है। मृत्यु के अंक में हम प्रेम करते हैं? झूठ है यह, बिलकुल झूठ है। ये जो आज हजारों लोग घर छोड़-कर भटक रहे हैं? वे क्यों परिवार में बंधे नहीं रहते?"

यह विचार मुझे जड तक हिला गया। वे कहते रहे, "धारिणी! जो तुम नहीं कर सकी, जो मैं—दधिवाहन—नहीं कर सका, वह यदि वसुमति कर दिखाए; लोक को एक मार्ग दिखा सके, तो कितनी बडी बात होगी। यह मिट्टी की देह में रहने-वाला यात्री आत्मा है न? है तो पराया, पर वासना और संस्कार ग्रहण करता है इस मिट्टी की, जिसका मूलाधार केवल बर्बर पशुत्व है।"

मैंने श्यामला को बुलाकर कहा, "श्यामले! यह क्या हो रहा है?"

"क्यों देवी!"

"अभी तक तो बेटी थी, अब पिता भी उसकी ओर है।"

"पर देवी! राज्य का क्या होगा?"

"क्या होगा?"

"उत्तराधिकारी भी नहीं है। मैंने सुना है राजवंश में इस बात पर खुसफुस भी होने लगी है।"

श्यामला को चैन कहां! पुत्र के बारे में जाकर महाराज से भी पूछा। उन्होंने कहा, "जा तू देवी को मेरे पास भेज दे। उन्हें समझा दूगा।"

महाराज से मिली तो बोले, "देवी! पुत्र और पुत्री में भेद कहा है? मैंने निश्चय कर लिया है।"

"क्या देव!"

"अपनी वसु है न? उसे ही उत्तराधिकार दिलाने की चेष्टा करूंगा।"

"अभी तक ऐसा कभी हुआ ?"

"नहीं हुआ।"

"फिर अब कैसे हो जाएगा ? मैंने तो कभी नहीं सुना कि स्त्री ने सिंहासन पर पांव अकेले रखा हो !"

"कहीं हमारे विचार में दोष अवश्य है। स्त्री यदि पुरुष के साथ बैठ सकती है, तो वह अकेले क्यों नहीं बैठ सकती ?"

मैं जो पहले स्त्री की बात करती थी, उलटी बातें करने लगी। क्या स्वामी मुझसे मन ही मन चिढ़े हुए थे ? क्या वे इस तरह मेरा क्षुद्रत्व प्रकट करना चाहते थे ? यह तो परिवार का अन्त था। वसुमति विवाह न करके संयम धारण करे और उत्तराधिकार प्राप्त करे, तो इसका अर्थ हुआ कि स्वामी भी संयम लेकर उसे शिक्षा दें। तब मैं ? मैं भी संयम ले लूं। वैराग्य छा जाए। बाप-बेटी दोनों ही तो परिवार की जड़ें काट रहे हैं !

"किन्तु परिषद् क्या इसे स्वीकार करेगी स्वामी ?" मैंने मुस्कराकर पूछा।

"परिषद्!" स्वामी ने कहा, "तुम्हारा सन्देह उचित है देवी! शायद न माने। निश्चय ही वहां विरोध होगा। हो भी तो क्या आश्चर्य है। बात नई भी तो है।" फिर उन्होंने सिर हिलाकर विश्वास से कहा, "पर मैं सामने रखूंगा अपनी बात ! तुम चिन्ता न करो। स्त्री का पक्ष मैं जितना रख सकूंगा उतना रखूंगा। तुम जो चाहती हो, एक बार वही कराने का यत्न करूंगा। तुम कहती थीं न कि मेरे सुख में तुम्हारा सुख है, तो एक बार मैं भी देखूं कि तुम्हारे सुख में ही मेरा सुख हो। कन्या को जो तुमने शिक्षा दी है, मैं क्या उसका विरोध करता हूं !"

यह मैं क्या सुन रही थी ! यह मैंने क्या सुना ? यह मेरे पति ने मुझसे क्या कहा ? स्त्री का पूर्ण समर्थन न मिलने पर पुरुष का आहत आत्मसम्मान—उसका अहंकार कहां तक जा सकता है, यह मैंने तभी समझा। पर मैं लौटती कैसे ?

सचमुच परिषद् के सदस्य बैठे और महाराज ने कह ही दिया, "क्यों, पुत्र ही क्यों ? पुत्री क्यों नहीं ? उसीको क्यों राज्यसिंहासन दिया जाए ?"

वृद्ध जीमूतवाहन राजकुल के व्यक्ति थे। उनका स्थान कुमारपादीय था। उनकी वीरता की गाथा आजकल प्रचलित थी। उनके यौवन के समय में मेरे

स्वामी के पितामह महाराज थे। स्वर्गीय श्वशुर के समय में जीमूतवाहन ने वत्स जैसे विशाल राज्य की वाहिनी को खंड-खंड कर दिया था। उसी झगड़े को शांत करने के लिए अड़ोस-पड़ोस के क्षत्रियों ने भी हाथ बंटाया था। तभी मगध के उत्तरी सीमांत पर बसे छोटे-से राज्य के राजा मेरे पिता धारण ने मगध के दोनों ओर के इन राजाओं को संतुष्ट करने को अपनी दोनों बेटियां ब्याह दी थीं—मैं आई चंपा; मृगावती गई कौशांबी। परन्तु घाव क्या भर गया? मेरे भगिनीपति शतानीक परंतप ने कहा कुछ नहीं। परन्तु राज्य की तृष्णा? उसे कौन जाने!

वृद्ध जीमूतवाहन हंस पड़े। कहा, "देव! युद्धकाल में स्त्री जाकर शत्रु से युद्ध कर लेगी?"

महाराज दधिवाहन ने देखा और देखा, और तब कहा, "जाएगी! यदि उसे युद्ध करने की सैनिक शिक्षा प्राप्त हो जाएगी!"

वह उत्तर बड़ा पैना साबित हुआ, क्योंकि लोग तो तभी समझे कि महाराज इस विषय में गंभीरता से बातें कर रहे थे।

"स्त्री समान नहीं हो सकती आर्य! पुरुष से बलात्कार नहीं किया जा सकता, स्त्री से किया जा सकता है। स्त्री अकर्मक है, पुरुष सकर्मक।" वृद्ध जीमूतवाहन ने अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरकर कहा।

"वह तभी तक है आर्य!" महाराज ने कहा, "जब तक हम बर्बरता की कल्पना करते हैं! जिस प्रकार राज्य बलवान और निर्बल की समान रूप से रक्षा करता है, उसी प्रकार वह स्त्री के शरीर की भी रक्षा कर सकता है, क्योंकि सभ्यता यही चाहती है!"

"किन्तु हम सभ्य कहां हुए हैं?" जीमूतवाहन ने कहा।

"आर्य! सभ्यता क्या है?"

"महाराज! सभ्यता यही है जिसे हम व्यवहार में लाते हैं—हमारा आचार। पीढ़ियों से यही चलता आया है।"

"वह तो परिवर्तनशील है आर्य! आदिकाल से धर्म के रूप बदल गए। नित्य नये धर्म बन रहे हैं। हमारा केन्द्र क्या है? वह जो शाश्वत है, या वह जो परिवर्तनशील है? यह सब तो बाह्य परिवर्तन-मात्र है न?"

"यह ठीक है देव ! अपराध क्षमा हो। सत्य को अविनय में नहीं गिना जाए। पशुत्व हममें कहां नहीं है ?"

"पशुत्व !" महाराज ने कहा, "सर्वत्र है।"

"देव ! जब आपने स्वीकार ही कर लिया तो फिर यह समानता की बात ही कहां उठी ?"

"हमने पशुत्व को जीता है न आर्य !"

"केवल ऋषि, मुनि और श्रमणों ने देव ! लोक ने नहीं। मर्यादा लोक की होती है। हम क्या पशु की ही भांति आहार, निद्रा और मैथुन में प्रवृत्त नहीं होते ?"

"ठीक है, परन्तु हम क्या पशु की भांति खाते हैं ? क्या हमारी वासना पशु जैसी ही है आर्य ! परिषद् के सभ्य विचार करें। गंभीर प्रश्न है। मानव जाति पशु तो नहीं है ? पशु का परिवार कहां होता है ? पशु की वासना का टिकाव कहां है ? पशु में लज्जा कहां होती है ? पशु में धर्म कहां है ? पशु में विचार और दर्शन कहां है !"

महाराज ने गर्व से चारों ओर देखा, परन्तु भले ही परिषद् में मौन छाया रहा हो, सदस्य संतुष्ट-से नहीं दीख रहे थे। जीमूतवाहन की ओर वे औत्सुक्य से देख रहे थे कि ये बोले और वृद्ध ने कहा, "देव ! मर्यादा के अंदर रहकर कहता हूं कि अपने एकांत संबंध में नारी पौरुष का पराक्रम चाहती है। पौरुष की सभ्यता नहीं। शताब्दियों से नारी ने उसी प्रकृति के कारण पुरुष का आधिपत्य स्वयमेव स्वीकार किया है। यदि मैं भूल कर रहा हूं तो मेरी आयु का पुराना अनुभव भूल कर रहा है। पुरुषानुक्रम से जो होता आया है वही मैं कहता हूं देव ! आपके पितामह के समय से आंखें खोले बैठा हूं मैं। जिस प्रकार युद्ध की बर्बरता और हिंसा को पराक्रम कहा जाता है, उसी प्रकार कामबल के पशुत्व को पौरुष का नाम दिया गया है ! उसे आप सभ्य शब्दावली में कुछ भी कह लें। स्वयं महाराज हैं। दैव ने आपको इस स्थान पर बिठाया है, परन्तु उसकी मर्यादा तो देव को रखनी ही चाहिए।"

सुलझन है कहां ? प्राणी का सुख कहा है ?"

वृद्ध ने दाढ़ी पर हाथ फिराकर कहा, "महाराज ! क्षमा करें। मेरा बेटा जो महाराज के पिता स्वर्गीय महाराज की रक्षा करते हुए अपने स्वामी को छोड़कर नहीं, उनके पहले ही स्वर्ग चला गया, वह यदि आज होता तो देव से आयु में अधिक होता। किसीने कहा है कि ब्राह्मणो मे बड़ा वही है जो विद्वान है, क्षत्रियो में बड़ा जो बलशाली और पराक्रमी है, वैश्यो मे वह है जो धनी है और आयु का बड़प्पन तो शूद्रो मे ही महत्त्व रखता है। हम लोग क्षत्रिय हैं, अत मुझे आयु के महत्त्व को विशेषता नही देनी चाहिए। किन्तु आयु में भी महत्त्व तो होता ही है। वह है सुख-दुःख का अनुभव। इसी नाते सेवा मे निवेदन करता हू कि प्राणी के दो सुख हैं। एक लोक का सुख है, दूसरा परलोक का। परलोक के लिए लोक को नहीं छोड़ा जा सकता, क्योकि लोक से ही परलोक बनता है, बिगड़ता है। महाराज स्वय देखें। काम किसमे अधिक है ? देव ! इस युग मे कोई पहली बार तो पुरुष नहीं हुआ, न पहली बार हुई है स्त्री। यह स्त्री-पुरुष का सबध तो न जाने कब से चला आ रहा है, और न जाने कब तक इसी तरह चलता चला जाएगा। आप मेरा इस प्रकार यह प्रश्न सुनकर विस्मय कर सकते है, किन्तु यह मूलभूत प्रश्न है। इसका उत्तर यही है कि क्षणिक वासना-मात्र काम नही है। आर्यों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नाम से जो मनुष्य की चार प्राप्तिया बताई हैं, वे लोक-परलोक का सामंजस्य करके ही प्रतिपादित की गई हैं और एक-दो व्यक्ति या युग की नही, यह अनेक व्यक्ति और युगों के अनुभवों की गाथा है। तभी हम इन परिणामो पर पहुचे हैं। सुलझन तो मन का समझौता है। आज तक पुरुष ही छटपटाया है मुक्त होने को। स्त्री के कितने उदाहरण हैं ? कितनी स्त्रियो ने घर छोड़ा है ? संतान की ममता के कारण स्त्री घर से ऐसी बंधी होती है कि पुरुष वैसा कभी नहीं होता। ब्रह्मा ने ही स्त्री और पुरुष का यह भेद बनाया है देव ! मासपिण्ड को मनुष्य बनाना कोई सरल नहीं है, तभी वेद मे माता की ही महिमा गाई गई है।"

महाराज चुपचाप बैठे रहे। परिषद् मे निस्तब्धता छाई रही। वृद्ध जीमूत-वाहन ने फिर कहा, "तभी पुरुष जीवन के विविध क्षेत्रो मे रहा है। देव ! प्राचीन ग्रंथ कहते हैं कि पहले स्त्री गायों की तरह स्वतन्त्र थी। बाद में उसने पतिव्रत को

स्वयं अपनाया। पुरुष आज तक परिवार में अपने को पूरी तरह से समेट नहीं पाया है। वह जो है न पुरुष ! स्त्री के साहचर्य से घिर जाता है। अन्यथा वह स्वतन्त्र रहता है। अपनी पत्नी से अत्यन्त स्नेह रखनेवाला पुरुष भी यह कहते सुना गया है कि विवाह के पहले वह अधिक स्वतंत्र था। ऐसा क्यों होता है देव ! होता है क्योंकि उसपर उत्तरदायित्व आ जाता है। पिता कन्या का विवाह करके कहता है, 'चलो छुट्टी हुई।' पति और पत्नी का मूल भेद यह है कि विवाह होते ही स्त्री अपने भविष्य के बारे में सोचना छोड़ देती है और पुरुष विवाह के उपरांत ही अपने बारे में, अपने भविष्य के बारे में सोचना प्रारंभ करता है। इसे देखिए और आज्ञा दीजिए। अङ्गदेश के आप स्वामी हैं। आपका शब्द ही प्रमाण है। महाराज ! स्त्री बड़ी चतुर होती है। उसने पुरुष को मूर्ख बनाकर अपने सारे स्वार्थ और सुख-साधन जुटाए हैं। पुरुष उसके लिए दिन-भर बाहर रहकर कमाता है। स्त्री कहती है कि मैं घर संभालती हूं। घर संभालती है तो किसलिए ? अपने लिए ? स्त्री न हो तो पुरुष को घर की आवश्यकता ही क्या ! एक बार मैं विन्ध्याटवी गया। रात हो गई वन में, तो शबरों के गांव में जा पहुंचा। जंगली शबरों ने मुझे ठहरा लिया। प्रातःकाल देखा कि सारे पुरुष शिकार करने चले गए और घर रह गईं स्त्रियां। मैंने भी सोचा था तब, कि क्या है स्त्री का कार्य ? घर संभालना। वे शिकार पर गए हैं। शिकार में हजार खतरे हैं। मेहनत है। घर पर क्या है ? कुछ नहीं। अपने बच्चों की देख-भाल करना। बच्चे किसके ? मां के। और रहा बनाना भोजन। सो उसे क्या स्त्री नहीं खाती देव ! परंतु स्त्री के इस रूप को बुरा कौन कहता है ? पुरुष और स्त्री के अलग-अलग धर्म हैं। स्त्री का धर्म है संतानोत्पत्ति और उसका पालन ! और इसीलिए पुरुष उसका पालन करता है। वह कोमल होती है। देव ! फिर विवाह करें। पुत्र प्राप्त करें, पितरों का ऋण चुकाएं। रहा यह कि महारानी बुरा मानेंगी, सो मैं आशा करता हूं कि राज्य के लिए वे बुरा नहीं मानेंगी। स्वयं उनके ही पिता की सात रानियां थीं।"

महाराज ने देखा और तब जीमूतवाहन ने पलकें झुका लीं और धीरे से बात समाप्त की, "आगे आप स्वयं स्वामी हैं।"

"नहीं," महाराज ने कहा, "आर्य ! हम महाराज हैं अवश्य, परंतु मनुष्य भी

है। लोक में अधर्म तब आता है, जब राजा अधर्म करता है। एक पुरुष के एक स्त्री हो, एक स्त्री के एक पति। यही उचित है। एक से अधिक पत्नियां रखना स्त्री जाति का अपमान करना है। यदि पुत्र न हो और फिर विवाह किया जाए, तो स्त्री तो केवल संतान के लिए हो गई! और फिर संतान भाग्य से मिलती है। क्या यह निश्चित है कि वह मिल ही जाएगी?"

महाराज की बात मैंने सुनी तो मुझे लगा कि वे बहुत महान थे, जिन्हें मैं अपनी क्षुद्रता में कचोटती रही थी।

"तो क्या देव! अब स्त्रियां यह भी कहेंगी कि वे मातृत्व नहीं चाहतीं।" वृद्ध ने व्यंग्य से कहा।

"पितृत्व और मातृत्व दो विभिन्न संज्ञाएं नहीं आर्य!" महाराज ने कहा, "पुरुष भी पिता बनना चाहता है। यदि दोनों ओर से वासना न होती तो संभवतः परिवार में पुरुष नहीं रहता। कुछ आराम पुरुष को भी मिलता अवश्य है, अन्यथा वह स्त्री के इतने बड़े स्वार्थ को योंही नहीं सह लेता।"

परिषद् के सदस्य हंस पड़े।

"तो देव!" श्रेष्ठि मराल ने कहा, "उत्तराधिकार का प्रश्न अभी रहने दें। सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा आज नहीं हैं। वे भी आ जाएंगे। श्रेष्ठि नदक भी अनुपस्थित हैं। वे भी परसों तक आ जाएंगे। तब तक परिषद् के सभ्य और विचार कर लेंगे और तब जैसा वृद्ध निर्णय होगा, वही कर लिया जाएगा। अपनी छोटी-मोटी राय में स्त्री को सिंहासन पर बिठाने में हानि तो नहीं, परंतु यदि वह विवाह करेगी तो राज्य का स्वामी यदि उसका पति हो गया तो ! ! और बिना राज्य के पति बनेगा कौन? संयम एक बार लेकर निबाहना भी सहज नहीं प्रभु! सब देख लें। प्रयोग के लिए ही इतना बड़ा दांव खेलना भी ठीक नहीं है।"

मैं प्रासाद में लौट आई। वसुमति की सखी सेनापति-पुत्री विरजा बैठ गई। मैंने कहा, "वत्से!"

"हां देवी!"

"तू नहीं बात करती अपनी सखी से!"

"क्यों नहीं करती देवी?"

"तो क्या तू अपने पति से असंतुष्ट है ?"

"क्या कहती हैं देवी !"

"ठीक ही तो कहती हूं ।"

"आपसे किसने कहा ?"

"कहेगा कौन ? संतुष्ट होती तो पति के सुखों का अपनी सखी से वर्णन न करती ?"

विरजा लजा गई

"अरी लजाती क्यों है ?"

"हटिए आप भी !"

"क्यों इसमें क्या बात है ऐसी ? सब लड़कियां करती हैं । क्यों ? जीवन मे नया अनुभव होता है न ?"

वह नहीं बोली । मुस्करा गई । मैं अपने भंवर में डूब रही थी । मुझे तिनके का भी सहारा चाहिए था । इसीलिए कहा, "अरी पुरुषों में आयु का प्रश्न होता है, स्त्रियों में तो एक ही बात होती है ।"

"वह क्या देवी ?"

"वह बताती हूं ।" मैंने कहा, "देख ! कल तक तू कुमारी थी ! तब वसु के साथ थी । अब तू विवाहिता है । हमारे साथ है । क्या नहीं जानती तू ? विवाह के बाद ही स्त्री का स्त्रीत्व पूर्ण रूप से प्रारंभ हो जाता है । होता है न ?"

वह सुनती रही । चेहरा लाल हो गया ।

"तू बोलती नहीं ।"

"देवी ! मुझे···मैं···सच···क्या···मैं कैसे कहूं आखिर···"

"अरी तो क्या मैं तुझसे कुछ पूछती हूं ? पर एक बात बता । तुझे विवाह करके कुछ सुख मिला या नहीं, बस इतना ही जानना चाहती हूं ।"

"हां देवी ! वहां भी समृद्धि है, शांति है । घर में झगड़ा नहीं ।"

"अरी पूछती हूं पति का सुख ।"

"देवी ! आप माता के समान हैं । आपका मुझे सम्मान नहीं करना चाहिए ?"

"क्यों नहीं ? मां का सम्मान क्यों नहीं करना चाहिए ! परंतु पुरुष ने ते

स्तोत्र को सुन दिया है न ? उसे जाकर वसुमती को बता । वह मूर्खा है । चाहती है संयम ! संयम क्या सहज है ? नीरस हो जाएगा जीवन ! पुरुष के बिना भी स्त्री का जीवन कोई जीवन है भला ! जा पुत्री ! समझा उसे । सब बताना । भला !"

"क्यों देवी ! सखी ने क्या कहा ?"

"विवाह नहीं करना चाहती !"

"महाराज क्रुद्ध होंगे तो ?"

"वे तो उसे उभाड़ रहे हैं ।"

"ऐं ? देवी ! आप यह क्या कह रही हैं ?"

"वह अभी बालिका है विरजे ! वह क्या समझेगी । पर कहीं आगे चलकर…! पाप शांत हो, पाप शांत हो ! आजतक स्त्रियों के महान पतिव्रत की कथाएं तो सुनी हैं, परंतु इस अवस्था में त्याग करनेवाली स्त्री के विषय में मैंने तो सुना नहीं । बुढ़ापे में तो स्त्रियां वैराग्य धारण करती हैं । वह तो उचित भी है ।"

विरजा ने उठकर कहा, "मैं समझाती हूं उसे । यह क्या पागलपन उठाया है उसने ? सच ! मुझे उसपर संदेह तो था, पर ऐसी पक्की निकलेगी यह आशा नहीं थी ।"

उधर नगर में स्त्रियां कहतीं, "सब ठीक रहा । राजकन्या वैराग्य ले लेगी !"

"और आया कोई सजीला किसी दिन ?"

"तो वैराग्य की विजय होगी । उत्तराधिकारी प्राप्त होगा ।"

वे हंसतीं और अश्लील बातें करतीं, "यह भी खेल समझ रखा है । अभी तो बिटिया के दूध के दांत भी नहीं गिरे होंगे । यह है किसका प्रपञ्च !"

कोई कहती, "अरे यह इसी रानी का कुचक्र लगता है कि कहीं सिंहासन पर कोई सौत न आ बैठे । हां !"

और स्त्रियां ही कहतीं, "स्त्री का चरित्र कौन जान सकता है ! महाराज सीधे-सादे हैं, तभी कठपुतली बनाकर नचा रही है यह रानी । होता कोई नीच या बिम्बसार-सा, तो बता देता ! ऐसा मंत्र दिया कि महाराज ही सिंहासन पर बिठाने की बात करने लगे हैं !"

लोग हंसते :

"सुना तुमने ! कहते हैं कि प्राचीनकाल में कोई शिख
पुरुष हो गया था।"

"आजकल नहीं होते क्या ? हमारी राजकन्या आगे
जाएगी।"

"हो गया ! अङ्ग राज्य का तो फैसला हो गया।"

"अरे क्या राज्य की यह हालत पड़ोसी राजाओं से छिपे
कोई न कोई अवश्य लाभ उठाएगा।"

श्यामला मुझे बताती और मैं कहती, "श्यामला ! मेरा
है।"

वह कहती, "तो देवी ! यों साहस हार बैठोगी तो क्या ह

"तू बता श्यामला ! मैं इसमें क्या कर रही हूं जो दोष मेरे
रहा है ? आखिर में सोचे हैं तो महाराज ! बुरी हूं तो मैं। क्य
उनसे कुछ ? वे एक छोड़ हजार ब्याह करें ! मैंने कब रोका है
से पुत्र नहीं जनम लेता तो मैं क्या करूं ? मेरा तो दुःख था सो था
के आफत हो गई।"

"मंगला से मैं कहूंगी देवी।"

"क्या कहेगी? "

"मैंने भी कुछ सोचा है।"

"तो मुझे भी तो बता।"

"वह दासी-पुत्री है।"

"तो ?"

"वह शीघ्र मेरी बात मान जाएगी
की बातें सुनवाऊंगी। कच्ची आयु
ही। समझ में नहीं आता। लड़
की निंदिया में डूब जाती हैं !

"जा, कोशिश करके दे

"मुझे विश्वास है देवी

श्यामला चली गई। मुझे कुछ सहारा-सा लगा। शायद सब ठीक हो जाए। पर अभी लड़का कहां था वसु के लिए ?

मंगला को जब श्यामला ने पास बिठाया और कहा, "क्यों री ! ब्याह नहीं करेगी ?" तो लॉज गई और बोली, "हाय, मैं ठहरी दासी । देवी कराएगी तो होगा। मैं क्या जानूं ? और पता नहीं, होगा भी या नहीं। दासी का क्या मौसी ! स्वामी चाहे तो हो, न चाहे न हो !"

"अरी मैं कराऊंगी तेरा ब्याह !"

"सो कैसे ?"

"मैं देवी से कहूंगी।"

"क्या ? मुझे बता दो मौसी। हाय मैं लाज-मरी।"

"देवी ने तो आप ही कहा था।"

मंगला ने आश्चर्य से कहा, "हाय दैया ! सच !"

वह प्रसन्न हो उठी। और बोली, "मेरे बच्चे तो मेरे ही रहेंगे न ?"

"नहीं तो क्या री ! बचपन में पलकर भी पूछती है ! यह क्या कोई मन-राज्य है ! और हमारे महाराज…"

"वे तो देवता हैं मौसी ! उनमें कितनी दया है !"

"और देवी !"

"हाय मौसी ! वे तो मेरी सब कुछ हैं। फिर भला उनके बिना मेरे जीवन में है ही क्या ?"

"जब ब्याह हो जाएगा न ? तब कहेगी यही ! फिर तो पति ही सब कुछ लगेगा न ?" श्यामला ने सिर पर हाथ धरा और कहा, "अरी ! तुझको नहीं ज्ञान होता है। राजकन्या ही को देख। ब्याह नहीं करना चाहती !"

"क्यों ? उनसे किसीने पूछा भी है या वैसे ही विचार करना छोड़ दिया है ?"

"क्यों री, तुझे पुरुष अच्छा लगता है ?"

"लगता तो है। स्त्री बड़ी नीच होती है मौसी ! पुरुष स्त्री के लिए सब कुछ करता है, फिर वह अच्छा क्यों न लगे। मेरा पुरुष [illegible] ध्यान रखेगा। मुझे प्यार करेगा…"

"अरी तो मुझे क्यों बताती है मूर्खा ! उसे जाकर बता कि तेरा पुरुष ते
साथ क्या-क्या करेगा..."

'धत्' कहकर मंगला भाग गई। श्याभला हंसी और बोली, "यही होता आ
है, यही होता जाएगा।"

दूसरे दिन मैंने देखा, मंगला प्रासाद के दण्डधर से ही अलिंद के स्तंभ की आ
में बातें कर रही थी। उसने अपने यौवन की पैनी धार खोल दी थी और दण्ड
उस नंगी तलवार पर नंगे पांवों चल रहा-सा दीख पड़ता था और तब मुझे ल
कि पीढ़ी दर पीढ़ी होती आई है यह कहानी, इसमें कुछ भी नयापन नहीं है; प
प्रत्येक जीव के लिए यौवन में यह नयी है और इसमें एक अथाह गहराई है, ए
सशक्त आकर्षण है।

तो, मैंने सोचा, क्या है नारी ? मैं, कि श्याभला, कि विरजा, कि मंगला

नारी ! यह भी स्त्री थी ! और स्त्री ही तो थी मेरी वसु भी ! इन दोनों
क्या भेद था ?

इस तरह दिन बीतते गए और मुझे चारों तरफ सूना-सूना-सा लगने लग
घृणा का एक अदभुत सूनापन मुझे घेरने लगा। यह शांति मुझे खाए जाती है, मु
कुछ अच्छा नहीं लगता। मेरा पति मेरे इतने पास है, मुझसे स्नेह करता है,
वह मेरा नहीं है। क्यों वह इस समर्पण से मुझे कचोट रहा है। क्यों नहीं वह मु
डांटता। क्यों नहीं पुत्री मुझे सांत्वना देती ! यह कैसा परिवार है मेरा ! मुझे स
और शांति बताई जाती है, पर वह शांति है कहां !

श्याभला ने कहा, "मैं नहीं समझती देवी ! मैं तो लोक को जानती हूं। व
ये प्रश्न ही नहीं उठते। पत्नी झगड़ती है, पति सुनता रहता है, सुनता रहता है
जब नहीं सहा जाता, तब उठकर उसे मारता है, वह फिर पिटती है. और गा
देती है, पर फिर मिल जाते हैं दोनों। दोनों की प्रीत अखंड रहती है। काम दुनि
के सब चलते हैं। झगड़े भी, प्रीत भी। संतान का मुख देखकर दोनों जीते है
पति-पत्नी ही तो सब कुछ नहीं होते। धनी लोगों की और बात है। पर गरीबों
सब ही सबकी देख-भाल करते हैं। मां-बाप की देख-रेख कौन करता है ? बेटा
तो !"

तब मैं वसु के पास गई और कहा, "पुत्री ! तेरा विवाह होना है न ?"

"नहीं तो ।" उसने कहा ।

'यह तो विद्रोह है, अविनय है ।"

"विद्रोह !" वसु ने कहा ।

"हां ! पुत्री ! माता की बात न मानना और क्या है ?"

"किन्तु मां ! हमारे संबंध तो लौकिक हैं ।"

"लौकिक हैं बेटी ! और हम इसी लोक में तो हैं ।"

विरजा भी आ गई । वसु ने कहा, "किन्तु ये संबंध एक कारण से निर्मूल है ।"

"किससे ?" विरजा ने कहा ।

"आत्मा के द्वारा ।"

"आत्मा का विकास ही परिवार है।" मैंने कहा, "जानती है ? अभी तू बालिका है । समझ नहीं सकेगी ।"

"नहीं मां ! ऐसा इसमें क्या कठिन है जो मैं नहीं समझ सकती । तुम परिवार की बात कहती हो न ? तो सुनो ! परिवार जो है न ? सो मुझे वह सब छोटा-छोटा लगता है ।"

"छोटा-छोटा ! !" मैंने कहा, "कैसे भला ?"

"परिवार छोटा क्यों हो ? स्त्री उसीमें क्यों बंधे ? वसुधा एक कुटुंब है । उसमें पुरुष के साथ स्त्री अपने को घर में क्यों बांध ले ? सबसे समान भाव से स्नेह क्यों न रखे ?"

मुझे मन ही मन खीझ-सी हुई । परन्तु कह कुछ न सकी मैं । विरजा की ओर देखा ।

विरजा ने आगे बढ़कर कुछ कहा । क्या कहा, वह मैं सुन नहीं पाई ।

वसु के नेत्रों में आश्चर्य दिखाई दिया ।

"समझीं !" विरजा ने फिर फुसफुसाया ।

वसु का मुख एक ग्लानि से भर गया ।

"सच कहती हो ?" उसने आंखें फाड़कर कहा ।



"तन क्या है देवी ! मन का दास ! मनुष्य जीवन की सार्थकता ही यह है कि मनुष्य इन्द्रियों के पशुत्व को मन से जीत ले। यह सच है कि पिता होने के नाते मुझे यह सब नहीं कहना चाहिए परन्तु मुझे अपने कर्तव्य का भी पालन करना है। पुत्री !"

"पिता !"

"निर्वाह कर सकेगी ?"

"प्रयत्न करूंगी पिता !"

"मुझे प्रतिज्ञा चाहिए।"

मैं चिल्ला उठी, "स्वामी ! कन्या अबोध है। उसके जीवन को नीरस न बनाएं।"

वे धीरे से बोले, "देवी ! मैं उस दुःख को मिटा रहा हूं जो तुम्हें सताता था। जीवन का आधार ठीक नहीं है।"

मैं सहम गई। मैंने कहा, "वह मेरी भूल थी देव ! वह मेरी नादानी थी। उसका प्रायश्चित्त यह तो नहीं है। यह मार्ग पुरुष को श्रेयस्कर हो सकता है, स्त्री को नहीं !"

स्वामी ने कहा, "यह एक भ्रम है। स्त्री और पुरुष वस्तुतः दो नहीं। दोनों एक ही के दो रूप हैं, तभी दोनों के मिलन से ही नये जीव का जन्म होता है। एक बार स्त्री को भी अपनी मर्यादा पहचानने के लिए उठने दो। हम नयी बात कहते हैं, संभवतः सब इसपर हंसेंगे, परन्तु उससे क्या हमें डर जाना चाहिए ?"

और मैंने चारों ओर देखा।

वे चले गए। मैं अपने प्रासाद में आ गई। वसुमति की दृढ़ता अब चंपा में फैल गई; महाराज का यह निर्णय भी कि वे पुत्री को ही उत्तराधिकारिणी बनाएंगे और इसीलिए उसे राजा के योग्य शिक्षा दी जाएगी। मुझे भी यह सुनकर गर्व हुआ। तो क्या मेरा हठ ही एक नये युग का सूत्रपात नहीं बनेगा ? स्त्री शासन करेगी !

वत्स की कोसांबी यमुना तीर पर खड़ी है। परंतप शतानीक मेरी बहिन के पति हैं। पराक्रमी हैं। उनका अग्निहोत्र निरन्तर प्रज्वलित रहता है। प्राचीन

कुरुकुल के पुरोहित, अभी तक उनके यहां उसी गौरव से वेदध्वनि करते हैं, जिससे उनके पूर्वजों ने कुरु पूर्वजों के यज्ञ कराए थे। शतानीक वही स्वप्न देखता है। किंतु उस स्वप्न से भी बड़ा होनेवाला था चंपा का स्वप्न! क्या कहेगा शतानीक सुनकर! हंसेगा। हंसेंगे पञ्चाल के क्षत्रिय। मद्र, सिंधु तक यह समाचार फैल जाएगा। फिर भी क्या हुआ!

शाक्यों का कपिलवस्तु खड़ा है। वहां, वे गणराजा सुनेंगे। सुना है कि वहां कोई राजा शुद्धोधन का पुत्र था सिद्धार्थ! वह घर छोड़ गया। क्यों? चक्ररत्न की प्राप्ति के लिए! क्या पाएगा वह? हम पाएंगे। लोक में नवीनता फैलेगी। विरोधी पराजित होंगे।

लिच्छवियों की वैशाली खड़ी है। विशाला है वह! वहां गर्वोन्नि क्षत्रिय मदांध घूमते हैं। कहते हैं वहां कोई गणराजा सिद्धार्थ था, जिसका पुत्र वर्द्धमान घर छोड़कर निकल गया। वह जिन तीर्थंकर की भांति, सुनते हैं, तप कर रहा है! क्या तप करेगा वह! क्या प्राप्त कर लेगा वह! मेरे स्वामी क्या कम दार्शनिक हैं!

मल्लों का पावा और कुसीनारा खड़े हैं। मल्लों के योद्धा दोनों जगह सन्नद्ध रहते हैं। मल्लों में विचारकों का बहुत मान है। क्षत्रिय हैं वे लोग। गण में एकत्र होते हैं। परन्तु स्त्रियों को तो वहां भी अधिकार नहीं! स्त्री क्या है? सर्वत्र वह अधीन है।

स्वामी कहते हैं कि स्त्री अधीन नहीं रहे।

कोसल की श्रावस्ती है, जहां बहुत दूर-दूर से वणिक पहुंचते हैं। प्रसेनजित राज्य करता है। उसके बारे में कहते हैं कि वह बहुत दयालु है। परंतु संसार पुरुष का है। स्त्री का नहीं।

यह मैं क्या सोच रही हूं। यह मुझे क्या विचार आ रहे हैं? मैं चौंक उठती हूं।

मगध के राजगृह की याद आती है मुझे। एक बार गई थी मैं वहां। बचपन में। तब और बात थी। अब तो वहां बिंबसार राजा है। कहते हैं कि उसे राज्य की लिप्सा है, किंतु वैसे वह दिखाता यही है कि वह राज्य नहीं चाहता! क्या कहेगा वह सुनकर?

अवंति की उज्जयिनी शिप्रा के किनारे सुनेगी। महासेन हो गया है वहां का चण्डप्रद्योत। खूब सेना जोड़ ली है उसने। सेना! किसलिए! हो जाएगा वह अमर? ले जाएगा वह राज्य अपने साथ? व्यर्थ नष्ट कर रहा है अपना जीवन! जीवन! क्या यह केवल वासना का अम्बार ही है? या वह है जो हम सोचते हैं!! एक उच्चादर्श! एक ध्येय! एक लक्ष्य! केवल अंग की चंपा ही गर्व कर सकती है कि उसने मनुष्य के कल्याण के लिए मार्ग पकड़ा है, और कोई नहीं।

"वसु!" मैंने उसका सिर छाती से लगाकर कहा, "बेटी! जीवन एक कठोर संग्राम है।"

"नहीं मां! ऐसा मत कहो। जीवन संग्राम नहीं। संग्राम में तो जय-पराजय की तृष्णा होती है। उससे तो अहंकार बढ़ता है।"

मैं सुन्न पड़ गई।

यह मेरी बेटी थी!

अभी इसकी आयु ही क्या थी! इतना सब सोच कैसे गई यह!

"किसने कहा तुझसे ऐसा बेटी?"

"मां! पिता कहते थे।"

"तेरे पिता देवता हैं पुत्री!"

"हां मां! बहुत-बहुत सिखाते हैं मुझे। तुम क्यों नहीं सिखातीं मुझे? बहुत-बहुत जानना चाहती हूं मैं मां! बताओ मां! परलोक कहां है? व्यक्ति कहां है उसमें? मनुष्य की आत्मा क्यों घूमती है? पिता सोचा करते हैं और मुझे अपने विचार बताते हैं। फिर कहते हैं कि बेटी! लोक में मनुष्य अपने स्वार्थ और संकोचों में सत्य को छिपाने का प्रयत्न करता है, इसलिए ही वह अपने घेरे को तोड़ नहीं पाता।"

"हां पुत्री! यही बात है।"

"तो मां! हम असल में यात्री हैं?"

"हां बेटी! यात्री ही हैं। यहां रहने ही कब पाते हैं हम? आते हैं, चले जाते हैं। फिर लौट आते हैं, फिर चले जाते हैं!"

"कैसी भयावनी है मानव की सत्ता!" वसुमति ने मुझे चिपटाकर कहा। मैंने

उसे छाती से लगा लिया। उसके शब्दों ने मुझे वास्तव में डरा दिया।

"सो जा बेटी !"

"तुम कहां सोम्रोगी मां ?"

"अपनी शय्या पर ! "

"नहीं मा ! मेरे पास ही सो जाम्रो।"

"अच्छी बात है।"

हम सो गए। रात को वसु चीख उठी। मैंने जगाकर कहा, "क्या हुआ बेटी ! क्या डर गई ?"

वसु ने कहा, "अम्ब ! मैंने स्वप्न देखा है।"

"क्या देखा वत्से !'

"अम्ब ! चपा पर विपत्ति आ गई है।"

"विपत्ति!" मैं कांप उठी। कहा, "नही बेटी ! अधिक तो भोजन नही किया ? ऐसा दु:स्वप्न क्यों हुआ ?"

श्यामला नीचे बिछे कालीन पर लेटी थी। उठकर बैठ गई और कहा, "देवी ! सुन तो लीजिए। कहीं किसी देवता ने कुछ न कहा हो।"

मैंने कहा, "किस तरह की विपत्ति पुत्री ? तूने क्या देखा ?"

वसु ने कहा, "चंपा डूबी जा रही है और मैं देखती हूं। तब मैं डरती हूं और चंपा को उठाती हूं, जल में बाहर...तभी आंख खुल गई अचानक।"

उस स्वप्न को सुनकर मैं चुप रह गई।

यह कैसा स्वप्न था !

महाराज ने सुना तो कहा, "अच्छा स्वप्न है। वसु इस चपा का उद्धार करने को ही पैदा हुई है।"

मैंने सोचा। क्या वसु जीवन में एक नया मोड लाएगी ? यह बालिका। अभी तो सब ठीक है, परन्तु किसी दिन यदि इसे लग गया कामबाण ! सचमुच ! मुझे बड़ी लज्जा हुई। मैं जो इतनी गर्विणी थी, स्त्री को बधा हुआ मानती थी, इसका दुःख करती थी, यह नहीं मानना चाहती थी कि स्त्री में भी काम होता है। क्यों था मुझमें यह भाव ! मैं सुख मे पली हुई भी दु:ख को लाड़ लड़ा रही हूं ! और

बेटी को अपने अहं के दांव पर ही तो लगा रही हूं।

"क्या तुम्हें पुरुष से घृणा है?" विरजा ने पूछा।

वसु ने कहा, "क्यों?"

"कहती हो न व्याह नहीं करूंगी? जानती हो, जीवन रूखा-रूखा हो जाएगा। चिड़चिड़ाने लगोगी। पुरुष से लड़-झगड़कर जो मजा है, वह इस अभावग्रस्त जीवन में कहां मिलेगा तुम्हें? करना है सो करो, पर पहले से उसका हल्ला तो मत करो!"

वसु चुप नहीं रही। कहा, "अभाव! किसे कहती हो तुम अभाव? अभाव का तो अपना अलग-अलग विचार है।"

"हां, हां" विरजा ने कहा, "सखी! कुछ दिन में अपने-आप समझ में आ जाएगा। देख लेंगे!"

"क्या देखेगी तू?"

"अहं की तड़पन!"

और मैं सोचती हूं...

विरजा ने यह क्या कहा? वसु नहीं समझ सकती। मैं समझती हूं।

वसु ने जीवन के उत्थान और पतन कहां देखे हैं। परन्तु कैसे रोकूं इसे! पति का हृदय क्या टूक-टूक न हो जाएगा यह देखकर कि मैं ही उनका विरोध कर रही हूं। पति की ये धारणाएं किस तरह बनीं? मेरे विचारों के कारण ही तो!

कहां जा रही है वसु?

एक ऐसे पथ पर जहां फूलों की सुगंधि का कोई मूल्य नहीं होगा। यह स्वतन्त्रता, यह संघर्ष, केवल निरानंद हो गया। तब मैं समझी कि स्त्री ने सब कुछ खोकर भी एक वस्तु पाई थी, जीवन में रस, रस अर्थात् संवेदना! और वसु उसे ही छोड़ रही थी।

क्या हमारे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मूल आधार यही संवेदना नहीं थी? उसे छोड़ा जा रहा था यह कहकर कि यह सब सीमित था, कि बाहर और भी विराट सत्य था; वह यह सत्य जो परिवार के बाहर निकलकर देखा जा सकता था। परिवार छोटा है, स्त्री इसमें बंध जाती है, पुरुष इसमें बंध जाता है, और

बाहर निकलने पर सबको समान दृष्टि से देखा जा सकता है।

मैं नहीं सोच पाती कि यह स्वप्न पूरा होगा या नहीं। क्या कभी संसार ऐसा भी हो सकेगा?

श्यामला ने आखों के आंसू पोंछकर कहा, "देवी! तो खेल खतम हो गया!"

विरजा ने व्यंग्य से देखा और उत्तर दिया, "अरी खतम नहीं, वह तो अब शुरू हुआ!"

श्रेष्ठि नंदक ने सुनामा का प्रासाद में आना बंद कर दिया। वह कहता था, "बाप रे बाप! मां, बाप और बेटी, वहां तो तीनों ही खराद के चढ़े हैं। मैं ठहरा प्रजा का आदमी, वे तो राजा हैं, चाहे जो करें। मैं बेटी का ब्याह नहीं करूंगा तो जाति क्या कहेगी! कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो जाए, रहेगा तो जाति में। जाति में ऊंचा कौन उठ सकता है!"

और मैं सोचती हूं कि, परिवार...जाति...व्यक्ति...सम्बन्ध...लोक...

वहां! मैं तो कुछ भी नहीं सोच पाती!!

३

मैं, दधिवाहन, अंगदेश का राजा, राज्य की शुभचिंता में सदैव तल्लीन रहा हूं, और सन्नद्ध प्रहरी की तरह मैंने राज्य के कल्याण के लिए चेष्टा की है।

परिवार मेरा छोटा ही है, क्योंकि मैंने अपने को एक व्यक्ति के रूप में समझा है। मैंने राजा और मनुष्य को मिलाकर विशेपाधिकारों को प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया है। इसका कारण रही है मेरी पत्नी, जिसे देखकर मुझे जीवन में सांत्वना मिली है।

मेरी धारिणी का हृदय बहुत कोमल है, वह मुझे बहुत प्यार करती है। उसकी बहिन है मृगावती, व्याही है शतानीक को, किन्तु वह जब भी धारिणी से मिली है, यही कहा है कि स्त्री को दरिद्र पति मिले, परन्तु मिले तो सही। इस वैभव के आडंबर में यह प्रेम है क्या? कुछ नहीं। विलास, प्रसाधन, ईर्ष्या, अहंकार, पडयंत्र और अधिकारों के लिए छीना-झपटी! मृगावती की बातों से धारिणी को सदैव एक सुख भी हुआ है और संदेह भी! संदेह इसका कि वह मुझे बिलकुल अपना लेना चाहती है, ताकि कहीं ऐसा न हो कि मैं उसे छोड़ दूं। धारिणी कहती है, "प्राण! मुझे तो सच विश्वास नहीं होता!"

"किसका!" मैं पूछता हूं।

"कि मैं इतनी सुखी हूं!" वह कहती है, और आंखों में डूब जाती है।

और वसु है हमारी पुत्री, मेरी लाड़ली बिटिया। उसे देखता हूं तो लगता है कि मेरे जीवन की सारी अपूर्णताएं उसमें विकास करेंगी। धारिणी कहती है, "स्वामी! यह तो पुत्री है, एक दिन हमें छोड़कर चली जाएगी। कुछ भी कर लो। विवाह के बाद स्त्री नये परिवेश में जाना चाहती है।"

यह मेरे सामने एक नया चित्र है। मैं कुछ और ही नये ढंग से सब कुछ सोचना चाहता हूं। चला कौन नहीं जाता! अंततः तो सब ही चले जाते हैं। चले कहां जाते

हैं। यह तो रास्ता है। इसपर सब चलते रहते हैं। कुछ मार्ग में पहले गिर जाते हैं, कुछ बाद में ! मैं सोचते-सोचते चौंक उठता हूं।

मैं दण्डधर से कहता हूं, "जाओ। राजकुमारी वसुमति को बुला लाओ !"

दण्डधर जब लौटता है तो वसु साथ है। वह प्रसन्न है और उसकी प्रसन्नता मुझे अच्छी लगती है। कुछ लोग होते हैं, जिन्हें हम अपनी वेदना के बल पर भी प्रसन्न देखना चाहते हैं।

वह पुरुषवेश में है, क्योंकि अब वह राज्य की उत्तराधिकारिणी है। स्त्री-वेश कोमलता को प्रश्रय देता है, और पुरुष-वेश कर्मठता को। बहुत-से काम ऐसे हैं जो पुरुष-वेश में ही किए जा सकते हैं।

मैं कहता हूं, "दुहिते ! आज मुझे तुमसे एक काम था !"

"आज्ञा दें पिता !"

"पुत्री ! तुमने राज्य में भ्रमण किया है न ?"

"हां देव ! परंतु मैं इधर माता की आज्ञा से उनके पास थी। वे कुछ बताती थीं। पिता ! मां स्त्री जीवन के विभिन्न रूपों के विषय में मुझे तरह-तरह की बातें सिखा रही थीं।"

"क्या बताती थीं ?"

"कौमार्य धर्म क्या है ? कैसे उसका निर्वाह हो।"

मैं मुस्कराता हूं। कहता हूं, "स्त्री इस परिधि से बाहर कब निकलेगी। और क्या बताया मां ने ?"

"पत्नीधर्म !"

तो, मैं सोचता हूं, परिवार की कल्पना स्त्री के लिए अनिवार्य है और यह कल्पना भी अपनी विशेष सीमाओं में ही रहती है। पत्नीधर्म ! और वैधव्यधर्म भी आया होगा इसके बाद ! किंतु यह परंपरात्मक रूप मुझे अच्छा नहीं लगता। स्त्री राज्य, लोक और साहित्य के महान क्षेत्रों में क्यों नहीं उतरती ? उसका जीवन क्या केवल इन्हीं सीमाओं में समाप्त हो जाने के लिए है ? इस लड़की को मुझे ऊपर उठाना ही होगा।

मैं कहता हूं, "संयम एक ऐसी बात है वसु ! जो स्त्री और पुरुष को बड़े-बड़े

कामों की तरफ ले जाती है। तुम्हें सबकी तरह साधारण जीवन व्यतीत नहीं करना है। समझीं! तुम्हारे भीतर बड़ी शक्ति है। तुम्हें सबको एक नयी राह दिखानी है। तुम इसलिए पैदा नहीं हुई हो, कि छोटे-छोटे सुखों में भूली रहो। चलो, नगर चलो मेरे साथ। विवाह है, संतान है, यह सब ऐसे नहीं होने चाहिए, कि मन को घर के भीतर ही बंद कर लें। यह भी जीवन के एक अंग हैं, सब कुछ यही नहीं हैं। इसीको भूल जाने के कारण आज स्त्री का सम्मान इतना घट गया है।"

रथ आ गया है। हम उसपर चल पड़े हैं। मैं उसे नगर की उन्नति के विषय में बहुत-सी बातें बताने लगा हूं और मुझे यह जानकर मन ही मन प्रसन्नता भी हुई है कि चिटिया बड़ी कुशाग्र बुद्धि है।

नगर के लोग देखते हैं। परस्पर संदेह से एक-दूसरे की ओर इंगित करते हैं। लोक का एक नियम है कि धार में बहते रहने को ही धर्म समझा जाता है।

पुरुषों में प्रायः अहंकार अधिक होता है। वे परिस्थिति से संघर्ष करते हैं, और जय में भी, या पराजय में भी, जब भी जो कुछ करते हैं, उस अहं को तुष्ट करके, अर्थात् अपने हर काम के लिए एक तर्क खोज लेते हैं। उस तर्क को वे दर्शन भी कहने से नहीं चूकते। प्रायः अधिकांश व्यक्ति उसी परंपरा में बहते चले जाते हैं। उसपर अधिक विवेचन नहीं करते। परिवार के बीच बालक जो सुनता है उसीसे उसकी संस्कार-भूमि बन जाती है और वह उसीको चुपचाप स्वीकार करता रहता है। यौवन के उपरांत जब वृद्धावस्था आ जाती है तो फिर बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता। विषमता से चिंतन पैदा होता है। और उससे समाधान खोजने की प्रवृत्ति को विकास मिलता है। इसीसे अनेक मार्ग बन जाते हैं। परंतु मुझे इन मार्गों में अनुगमनीय कोई नहीं दिखता। अभी तक लोक ने अंधविश्वास को ही पकड़ा है। मार्ग कठिन होने से ही क्या त्याज्य है? यही सोचकर मैंने यह नया प्रयोग किया है। यदि यह सफल हो गया तो मनुष्य प्रकाश में आ जाएगा।

विनीत सिरों के बीच से रथ निकल रहा है। मैं उसे बताता हूं कि नगर और राज्य का क्या संबंध है। नगर की सुरक्षा का वास्तविक अर्थ यह नहीं कि राजा के पास विशाल सेना हो, वरन यह कि अधिक से अधिक मनुष्य सुखी रहें। यही मैंने प्रयत्न किया है।

वसु मेरी बातें सुनती है और तब कहती है, "परंतु पिता ! आपने अपने वैभव को त्यागकर भी क्या सचमुच लोक का दारिद्र्य हटा दिया है ? क्या अब भी मनुष्य मनुष्य पर धन के माध्यम से शासन नहीं करता ?"

सचमुच जैसा पुत्र वैसी पुत्री । मैं कहता हूं, "कन्ये ! मैंने जो किया है, यदि सभी वैसा ही करते तो अवश्य दारिद्र्य नहीं रहता। किंतु उसके लिए सबमें धैर्य कहां है ! मनुष्य बहुत मूर्ख होता है । अपने संस्कारों के सत्य को वह बहुत बड़ा सत्य समझता है । चैत्य होकर हम इधर जा रहे हैं । देखती हो न ? परंतु हम चैत्य पर रुके नहीं । साधारणतया वहां जाकर सब रुककर प्रणाम करते हैं । इससे ही हमारे इस काम को देखनेवाले असंतुष्ट भी हुए होंगे । इतना परिवर्तन करना सहज है कि हम वहां न जाएं, परंतु यदि चैत्य में दूसरों का दर्शन बंद कर दिया जाए तो क्या होगा ! विद्रोह !'"

जब हम प्रासाद लौटते हैं, सांझ हो गई है । मैं अपनी बात स्पष्ट करता हूं । कहता हूं, "पुत्री ! लोक को बदलनेवाले को पहले अपने उदाहरण को सामने प्रस्तुत करना होगा, इस कार्य के लिए संयम की आवश्यकता है; छोटे सुख की ओर न जाकर बड़े सुख की ओर जाना होगा ।"

इसी समय प्रतीहारी प्रणाम करती है, द्वार पर आकर । मैं उसकी ओर देखता हूं, प्रतीहारी कहती है, "देव ! द्वार पर सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा उपस्थित हैं । किसी आवश्यक कार्य से वे इसी समय देवदर्शनों की प्रार्थना करते हैं ।"

कौन ! सेनाध्यक्ष ! इस समय ! आखिर क्यों आया है वह ?

मैं कहता हूं, "उपस्थित करो ।"

प्रतीहारी चली गई है, वसु कहती है, "पिता ! सेनापति तो प्रातः आते हैं न ?"

रुद्रवर्मा प्रणाम करता है ।

मैं उत्तर देकर कहता हूं, "स्वागत है रुद्रवर्मा ! आज इस समय ?"

वसुमति को देखकर वह मुस्करा उठता है ।

वह कहता है, "महाराज राज्यकार्य में निरंतर व्यस्त हैं, जानते हुए भी उपस्थित हुआ हूं ।"

व्यंग्य की सीमा होती है। तिक्त स्वर में मैं पूछता हूं, "सेनापति ! राज्यकार्य केवल कूटनीति और षड्यंत्र तक ही सीमित नहीं है। राज्य किसलिए बना ? लोक के कल्याण के लिए और इसीलिए राजा बना। गण बने जब राजा निरंकुश हुआ, और जब गण निरंकुश हुए तब फिर राजा बना।"

"चक्र है एक", सेनापति कहता है, "यह मैं जानता हूं। लेकिन लोक में, देव ! समाचार ठीक नहीं है और हमें इस लोक की अवस्था को देखते हुए ही सब काम करना है। गंगा भी पत्थरों पर गेहूं नहीं उगा सकती। और यही समस्या मुझे भी खाए जा रही है महाराज ! सीमा पर वत्सराज्य की सेना घूम रही है और ऐसे भी समाचार आए हैं कि उसने अंग राज्य के ग्रामीणों को मारा-पीटा है। लूटा है।"

मैं सोचने लगता हूं, 'वत्सराज्य ! मगध के उत्तरी वन को पार करके यहां आई है उसकी सेना ?'

"और चर क्या कहते हैं ?" मैं पूछता हूं।

"देव ! सैनिक लूटकर भाग जाते हैं।"

वसु कहती है, "तो लिख दीजिए महाराज शतानीक को कि उनके सैनिक आकर हमारे राज्य की शांति को नष्ट कर रहे हैं। मौसा हैं वे मेरे। अवश्य अपने सैनिकों को अनुशासनहीनता के लिए दण्ड देंगे। जैसी हमारी प्रजा, वैसी उनकी प्रजा।"

रुद्रवर्मा ठठाकर हंसता है। वह कहता है, "राजकुमारी ! आपकी सलाह सचमुच बहुत कीमती है। राज्य और परिवार, मैं तो समझता हूं, दो अलग-अलग चीजें हैं, और आपने इन दोनों को मिला दिया है। इसीलिए इतना उलझाव पैदा हुआ है। राजनीति की दृष्टि तो इस प्रकार नहीं चल सकती न ?"

"यही इस लोक की व्यवस्था में भूल हो रही है।" उसको चौंकने को छोड़कर तब मैं कहता हूं, "सेनापति ! यह हास्यास्पद भले ही लगे परंतु बात बहुत बड़ी है। राज्य मूलतः बड़े-बड़े परिवार ही हैं। जिस प्रकार परिवार एक नगर में मिलकर रहते हैं, वैसे ही राज्य भी रह सकते हैं; यह क्या नहीं हो सकता ?"

"देव ! यह परिवार नहीं, राज्य है।" सेनाध्यक्ष कुछ खीझकर कहता है, "और एक परिवार क्या अपने लिए दूसरे परिवार से स्वार्थ की साधना नहीं करता?

क्या सेवक का परिवार नहीं होता ? क्या वह स्वामी के परिवार का-सा सुख पाता है ? यहां तो फिर राज्य की बात ठहरी।"

"राज्य हृदयहीनता का नाम है ?" वसु पूछती है, "परिवारों मे अशांति है तो इसीलिए न ? सेनापति ! स्वार्थ का विराटतमरूप ही तो राज्य बना है। राज्य कोमलता से नहीं चल सकता ? राज्य के लिए कठोरता आवश्यक है ?"

"हां राजकुमारी ! यही स्त्री और पुरुष का भेद है। परिवार स्त्री के माध्यम से चलता है, और राज्य पुरुष के माध्यम से। दोनों में मौलिक भेद है।"

"तो क्या पुरुष स्त्री से जन्म लेकर, उसके सद्गुणों का उपयोग नहीं कर सकता ?" वसु उसकी बात काटकर पूछती है, "जन्म लेते ही प्राणी स्नेह के बल पर पलता है। उस स्नेह को वह चिरस्थायी क्यों नहीं रख सकता !"

"हां राजकुमारी, परिवार की सीमा वहीं तक है जहां तक स्त्री-पुरुष के व्यक्तिगत संबंध होते हैं। राज्य अनेक स्त्री-पुरुषों की सुरक्षा और शांति के नियमन का नाम है। वह एक अलग ही व्यवस्था है। दोनों को मिलाया कैसे जा सकता है?"

वसु सिर हिलाती है जैसे उसे यह स्वीकार नहीं। कहती है, "दो हैं ये, और दोनों एक नहीं होंगी ? ऐसी हैं ये दो सत्ताएं। परिवार की कोमलता को जीवित रखने को कठोर राज्य अपने ऊपर जिम्मेदारी लेता है। सेनापति ! हमारे जीवन में दो विरोधी आधार हैं। इन दोनों की विषमता से ही यह अनर्थ जन्म लेता है ?"

रुद्रवर्मा ऐसे देखता है जैसे समय व्यर्थ नष्ट हो रहा है। वह एक लड़की से बहस नहीं करना चाहता। मैं देखता हूं कि पुरुष स्वभाव से ही स्त्री को मूर्ख समझता है और इसीलिए उससे बराबरी के दर्जे पर बात भी नहीं करना चाहता। सेनाध्यक्ष कुछ रुष्ट हो गया है। उसका कठोर शरीर उसके पराक्रम का प्रतीक है, और वसु की कोमलता उसके सामने नितांत नगण्य है। उसने एक बार तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा है जैसे वह मेरा उत्तर चाहता है। मैं बोल नहीं रहा हूं। अतः वह कहता है, "देव ! इस विषय में आप जो आज्ञा देंगे, वही मान्य होगी।"

वसु के मुख का अपमान से रंग बदल गया है। किंतु वह चुप हो गई है। रुद्रवर्मा जैसे समझ गया है। वह कहता है, "राजकन्ये ! आपकी आज्ञा भी शिरोधार्य ! परंतु परिषद् का प्रश्न भी तो है !"

तभी प्रतीहारी कहती है, "देव ! श्रेष्ठि नंदक द्वार पर उपस्थित हैं !"

"इस समय आर्य नंदक !" मैं चौंककर पूछता हूं।

"हां देव !"

"उपस्थित करो।" मैं कहता हूं और रुद्रवर्मा की ओर देखता हूं।

नंदक आया है। चेहरे पर हवाइयां उड़ रही हैं। माथे पर पसीने की बूंदें हैं। उसने प्रणाम किया है।

"इस समय कैसे आए आर्य नंदक ?"

"देव ! घोर विपत्ति आ गई है।"

मैं कहता हूं, "नंदक ! स्वस्थ होकर कहो।"

"वत्स की सेना ने मेरा सार्थ लूट डाला, कोसल से आ रहा था।"

"सार्थ ! लूट लिया ! कहां ?"

"उत्तरी सीमा पर ! मेरी घोर हानि हुई है।"

"वह हानि हम पूरी करेंगे नंदक !"

"देव ! देव !!" वह चिल्ला उठता है, "आप पूरी करेंगे ?"

"हां ! क्यों ? इसमें तुम्हें विस्मय क्यों होता है ?"

नंदक नहीं समझ सका है। उसने चंचल दृष्टि से एक बार रुद्रवर्मा की ओर देखा है, जो इस समय कठोर-सा खड़ा है और मुझे देखते हुए बोला है, "सीमा का उल्लंघन हो गया आर्य !"

"किसकी सीमा ?"

"राज्य की !"

"राज्य की !" मैं कहता हूं, "राज्य नहीं। राज्य से भी बड़ी सीमा ! शांति की ! हां नंदक ! यही पाप है। किस अवस्था में जाकर मनुष्य उस शांति की सीमा का उल्लंघन करता है, जिसका अतिक्रमण मनुष्य से उसका सुख छीन लेता है ? जीवन पर जब मृत्यु शासन करती है, वह कौन-सा क्षण है ? किस क्षण में मनुष्य उस मृत्यु को ऊंचा मान उठता है, जिससे वह सदैव घृणा किया करता है ? कहो पाप और पुण्य की…"

"देव ! मैं वैश्य हूं…" नंदक ने काट दी है मेरी बात, और कहता है, "अप-

राय क्षमा हो ! आप महाराज भी है, और दार्शनिक भी; किंतु मैं एक साधारण व्यापारी हूं। इस लोक का ही निवासी। मेरा धन मेरे लिए बहुत बड़ा सुख है। यदि वह नही है तो कुछ भी नहीं है देव ! यह राज्य यदि मेरे धन की रक्षा नही करता, तो मैं इस व्यवस्था को ही नही चाहता।"

रुद्रवर्मा काटकर कहता है, "और प्रजा का तुम्हारे सामने कोई मूल्य नही है ?"

"क्षत्रिय प्रजा की बात करे। मैं स्वय ही प्रजा हू। प्रजा तो मैं हूं ही, और क्या हूं ? मैं अपनी रक्षा के लिए ही तो कर देता हूं ?" नंदक कहता है, "लेकिन राजा यदि मेरे कर को लेकर मुझे धर्मोपदेशना देते है तो मैं बहुत बड़ा भाग्य लेकर आया हूं, इसमें मुझे कोई संदेह नही, क्योंकि मेरी हानि तो वे कोष से भरने को तत्पर हैं !" वह व्यंग्य से हंसता है, "मुझे और किसीसे क्या !"

रुद्रवर्मा क्रोध से द्वार के बाहर चला गया है। नदक ने मुझे प्रणाम किया है और वह भी उसके पीछे निकल चला है।

जब वे चले जाते हैं, वसु कहती है, "पिता ! ऐसा क्यों हुआ ?"

"कैसा बेटी ?"

"इनको क्रोध क्यो आया ?"

"क्रोध ! भय से आता है बेटा ! जब व्यक्ति को अपने किसी गहरे स्वार्थ में ठोकर लगती दिखती है, तब और कुछ भी वह सोचना ही नही चाहता।"

"तो आर्य ! सेनापति को तो स्वार्थ की चपेट नही थी !"

"वह भी एक दूसरा प्रश्न है। क्योंकि मनुष्य की लोक के बीच एक परंपरा बन जाती है, वह उसीको अपना धर्म मानकर चलता है।"

"धर्म का अर्थ तो लोक को सुखी करनेवाला कर्तव्य है न ?"

गलत धर्म ही जब व्यवसाय बन जाता है तो यही होता है। वे दोनो असली बात को बिना सुलझाए चले गए हैं कि वत्स की सेना का क्या किया जाए। उनके पास इतना भी समय नही कि वे वस्तुतथ्य को देख सकें, क्योंकि वे मेरी आज्ञा सुनने के आदी हैं; वे मुझसे तर्क नहीं सुन सकते ! मैं चुप हो गया हू। वसु लेट गई है।

"सो जा बेटी", मैं कहता हूं, "रात हो गई है।"

"पिता ! फिर वत्स की सेना का क्या होगा !" वसु पूछती है।

"सब ठीक हो जाएगा बेटी ! विश्वास में जीवन का बहुत बड़ा संबल होता है। अब तू सो जा !"

"कैसे सोऊं पिता, सेना तो निरीह ग्रामीणों को लूट रही है।"

क्यों हैं वे निरीह ! क्योंकि उनके पास सेना जैसे शस्त्र नहीं हैं। संगठित होकर वे युद्ध नहीं कर सकते। यही है न ? और भी एक कारण है कि वे अपनी रक्षा मुझ-पर डाल चुके हैं। अन्यथा निरीह ! कोई निरीह नहीं है। सब स्वयं अपने को बचा सकते हैं !

अंत:पुर की दासी जरिता ने आकर कहा है, "देवी महारानी ने राजकन्या को बुलाया है। कहा है उनके पास ही सोने चलें।"

मैं कहता हूं, "जा बेटी।"

वसु चली गई है। परंतु मैं सोच रहा हूं, 'क्यों है यह लोक ऐसा ! ग्रामीण कितने अधिक हैं। फिर भी वे नहीं बचा सकते अपने को ! तो सेना क्या है ? और फिर मैंने अङ्गराज्य में सेना को महत्त्व नहीं दिया है। क्या अब यह मेरे लिए हानि-कारक होगा ? मैंने प्रजा का पेट काटकर सेना को नहीं पाला, क्या यह मेरी भूल थी ?

सवेरे मेरे पास संवाद आया है कि आर्य जीमूतवाहन उपस्थित हुए हैं। मैं उसी समय शतानीक को एक पत्र भिजवाकर अब बैठा हुआ हूं।

मैं कहता हूं, "आर्य को ले आओ।"

दण्डधर वापस जाकर और वयोवृद्ध जीमूतवाहन के साथ लौटकर उन्हें छोड़-कर चला गया है। वृद्ध मुझे अभिवादन करते हैं। मैं स्वागत करता हूं। आए हैं वे। बैठे हैं। कुछ क्षण कुशल-मंगल की बातों में निकल गए हैं और अब उन्होंने मुझसे कहा है, "देव ! आवश्यक कारण से उपस्थित हुआ हूं।"

"पूछें।" मैं आज्ञा देता हूं।

"देव, यह सत्य है कि वत्सराज्य की सेना अङ्गराज्य की सीमा का अतिक्रमण करना चाहती है ?"

"हां, मुझे यह समाचार प्राप्त हो चुका है। सेना ने ग्रामीणों और व्यापारियों की लूट-पाट भी की है।"

"और आप देव ! इसके लिए—क्षमा करें, अपराधी न गिना जाऊं; यदि उचित समझें तो बताएं—क्या प्रतिकार कर रहे हैं ? वत्स सेना क्यों आई है, यह प्रश्न आप जानते हैं ?"

"मैं अभी शतानीक को पत्र भेज चुका हूं। जिसमें मैंने उसे याद दिलाया है कि वह हमारी पुरानी संधि को तोड़ रहा है। सीमा पहले निर्धारित हो चुकी है।"

"पत्र ?" आर्य जीमूतवाहन चौंकते हैं, "किसने भेजा है पत्र शतानीक को ? उत्तर आ गया ? वह होगा कहां कौसांबी में ? वह तो वन में छिपा होगा कहीं !"

"हमने आर्य ! पत्रवाहक कोसांबी नहीं वन में गया है।"

"आपने !" जैसे उन्हें विश्वास नहीं हुआ है, "वन में भेजा है ?"

"हां आर्य !" मैं जोर देकर कहता हूं।

"राज्य की ओर से पहला कदम यही उठाया गया है ?"

"पहले शांति। फिर कुछ और !" मैंने उत्तर दिया है।

जीमूतवाहन सिर पर हाथ रखते हैं और कहते हैं, "इन भुजाओं ने पीढ़ी दर पीढ़ी अंगराज्य के अधिपतियों की सेवा की है। कहते हैं कि मेरे पूर्वजों ने अंग-राज्य वंश की तब से सेवा की है, जब इसकी नींव पड़ी थी। मैं तब से यहां के वीर शासकों की गौरवगाथाएं सुनता आ रहा हू, किन्तु देव ! अब बुढ़ापे में मैं यह क्या सुन रहा हूं ? आपने सविनय पत्र भेजा है !"

"किन्तु संधि संधि ही है आर्य ! मैं समझता हूं इसमें विनय-अविनय का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"देव ! संधि तो तब होती जब पहले सीमा पर आपका खड्ग वत्स के उठे खड्ग को पीछे हटा देता। भय ही संधि का मूल कारण है। वैसी ही संधि के कारण अंगदेश की शांति आज तक बनी रही है।"

"यह तो युद्ध और हत्या का मार्ग है आर्य !" मैं कहता हूं, "मैंने अंगराज्य को सुख और समृद्धि दी है !"

जीमूतवाहन सिर उठाता है और कहता है, "तो जो कुछ दे चुके हैं, उसे इस मार्ग से गंवा देना चाहते हैं !"

द्वार पर कंकण बजने का शब्द सुनाई देता है। हम दोनों उधर सिर उठाकर

देखते हैं।

धारिणी खड़ी है। जीमूतवाहन ने 'आर्ये प्रणाम' कहा है। महारानी ने भी उन्हें भट्टारकपादीय वृद्ध जानकर प्रणाम किया है। धारिणी बैठ गई है। वृद्ध कहते हैं, "तो शांति बिना खड्ग के कैसे जीवित रह सकती है महाराज! आप अभी तरुण हैं। पूछिए महारानी से। क्या बिना युद्ध के अंगराज्य बच सकता है?" स्वयं ही उन्होंने कहा है, "देवी! कुछ आप नहीं कह सकतीं? महाराज का मन बदल नहीं सकतीं?"

धारिणी इसी विषय की सूचना पाकर आई है। कहती है, "आर्य! शांति से काम चल जाए तो युद्ध हो ही क्यों?"

जीमूतवाहन घृणा से खड़े हो गए हैं।

वे कहते हैं, "आर्ये! पुरुष वही भाग्यवान है जिसे बुद्धिमती स्त्री मिलती है। मैं अब क्या चिंता करूं? मैं तो मृत्यु के द्वार पर आ ही पहुंचा हूं। बहुत जी लिया हूं, और अब मेरी साध पूरी हो चुकी है।"

वे अपना खड्ग निकालते हैं और कहते हैं, "किंतु जो कुछ मैं हूं, वह यह है। इसीके बल पर अभी तक मैंने जीवन व्यतीत किया है। स्वर्गीय महाराज ने मुझे यह खड्ग मेरी सेवाओं से प्रसन्न होकर दिया था। और कहा था कि जीमूतवाहन, यह कभी मेरे वंशज के विरुद्ध नहीं उठे। इसीलिए आज विवश होकर फिर इसे लौटाए देता हूं देवी!" यह कहकर उन्होंने खड्ग घुटने के नीचे दबाकर तोड़कर मेरे सामने फेंक दिया है और कहते हैं, "महाराज! पुरुषानुक्रम से जिन हाथों को वीरों की सेवा सिखाई गई है, वे क्षत्रियों के हाथ शत्रुओं का विध्वंस करके ही जीवित रहते हैं। अब देव! मैं साधु-सेवा तो क्या करूंगा। राज्य बनते हैं, मिट जाते हैं, परंतु क्षत्रियों का तो वचन ही रह जाता है।"

धारिणी अवाक् रह गई है। उसने मेरी ओर देखा है।

"आर्य!" मैं कहता हूं, "वीरता क्या पशुता में ही है?"

जीमूतवाहन सिर झुकाकर कहता है, "महाराज! आप स्वामी हैं। मुझे जाने की आज्ञा दें, क्योंकि जिस जिह्वा ने अपका नमक चखा है, वह आपके नमक का मूल्य नष्ट नहीं करना चाहती।"

"मैं मृगावती को लिखती हूं", धारिणी कहती है, "आर्य! यह युद्ध नहीं है। अवश्य ही यह सैनिकों का अप्रत्याशित उपद्रव है।"

"देवी! ऐसा ही हो!" कहकर वृद्ध प्रणाम करते हैं, और वे सिर झुकाए कहते हैं, "कोसांबी जब तक दूत पहुंचेगा तब तक तो प्रलय हो चुकेगा। पहले मगध, फिर वत्स!" वे हंसे हैं और चले गए हैं।

उनके चले जाने पर हमारी आंखें टूटी तलवार पर चली गई है। दो दिन बीत गए हैं। वन में शतानीक के पास हमारा पत्रवाहक न पहुंचा। हमने मृगावती को पत्र भेजने का निश्चय किया है। कोसांबी से उत्तर आने तक न जाने क्या होगा। तभी कोसल से आते हुए एक सार्थ के व्यापारी से पता चला है कि मृगावती इस समय कोसांबी में नहीं है। वह गंगा-स्नान करने चली गई है।

गंगा-मार्ग से आते हुए हमारे पत्रवाहक को पकड़वा बैठता है स्वयं शतानीक। पत्र पढ़ लिया है उसने। और पत्रवाहक को सामने बिठाकर उसने अमात्यों को सुनाया है। तब शतानीक हंस दिया है और हंसे हैं उसके अमात्य। कहा है शतानीक ने, "अरे इतना भय! अंगराज्य स्त्रियों के बल पर चलता है क्या? दधिवाहन कहां है?"

उसकी सेना हंसी है और सेनापति गोधूम ने मदिरा अपने प्याले में उड़ेलते हुए कहा है, "अंगराज्य में सुनते हैं मदिरा अधिक अच्छी होती है।"

मैं सुन रहा हूं। शतानीक वन में पड़ा है!!

प्रासाद में सनसनी छाई हुई है। हर क्षण कोई न कोई मुझसे मिलने आया ही करता है।

ग्रामणी बाहर एकत्र हो रहे हैं।

नगरपाल ने आकर कहा है, "महाराज! ग्रामणी दर्शन के लिए खड़े हैं।"

"किसलिए नगरपाल!"

उसने उत्तर नहीं दिया है, तब मैं बाहर गया हूं। ग्रामणी आतंकित हैं। कहते हैं, "राजा कर लेता आया है, हमने उसे अपने क्षेत्रों (खेतों) की उपज का छठा भाग दिया है। किस दिन के लिए? इसी दिन के लिए तो! फिर अब वह चुप क्यों है? अब तक तो सेना को युद्ध में लगा रहना चाहिए था।"

मैं कहता हूं, "राज्य रक्षा करेगा। अवश्य करेगा, तुम्हारे ऊपर हानि का भाग नहीं गिरेगा।"

"किन्तु महाराज ! यह होगा कैसे ?"

"यह राजा का काम है।"

"देव ? सेना तो कहती है कि हमें लड़ने का अधिकार ही नहीं है। सैनिक यह भी कहते हैं कि हम हैं ही कितने ! वत्स की सेना बहुत बड़ी है।"

"वत्स की सेना बड़ी है तो वत्स के किसान पैदावार का एक बटा छः भाग नहीं देते, राजा उनसे चौथाई ले लेता है। जब कर देने का प्रश्न आता है तब तुम कम से कम देना चाहते हो, जब सेना छोटी होने का प्रश्न होता है तो वह उत्तरदायित्व राजा पर छोड़ते हो ?"

"देव ! फिर भी विदेशी सेना के आने से क्या नाश नहीं होगा ? युद्ध के बिना वह कैसे रुकेगी ?"

"युद्ध ! युद्ध में नाश नहीं होगा ? युद्ध में गांव के गांव जलाकर नष्ट नहीं कर दिए जाएंगे ? तब लूट नहीं होगी ?"

पर अब मेरी बातें कोई नहीं सुनता है।

मेरे साथ केवल वसु है।

लोग कहते हैं, "राजा डर गया है। राजा घबरा गया है। राजा मूर्ख है। वह अपनी लड़की से सलाह लेता है। लड़की भी कहां, अभी तो वह बच्ची ही है।"

धारिणी डांवाडोल हो गई है।

उसने मुझसे कहा है, "महाराज ! संवाद तो अच्छे नहीं हैं।"

"शायद शतानीक आक्रमण करना चाहता है।"

"शायद अभी तक यह निश्चय नहीं कर सके आप ?"

"जो शांति चाहता है वह युद्ध की भूमिका से क्यों प्रारम्भ करे ?"

वह कहती है, "शांति और युद्ध राज्य की व्यवस्था के दो रूप हैं। वत्स में बेकारी थी। उसे मिटाने के लिए शतानीक ने सेना बनाई और अब सेना के लिए उसे युद्ध चाहिए।"

"धारिणी !" मैं कहता हूं, "तो तुम स्वयं समझती हो। राज्य की हिंसा

मनुष्य की मूलभूत हिंसा का ही रूप है।"

वसु सुन रही है और कहती है, "तो दो दर्शन हुए इस जीवन में। और दोनों में परस्पर विरोध है। एक के ऊपर दूसरे को आश्रित किया जाता है।"

धारिणी कुछ सन्देह में देखती है और कहती है, "दो कैसे वसु?"

"एक स्वार्थ का समझौता, एक परमार्थ की विनम्रता।"

"कैसे?"

"मां! राज्य समृद्धि और शांति के लिए होता है, किंतु उसको संभालने-वाले को मद हो आता है और तब वह लड़ता है दूसरों से। यह स्वार्थ है।"

मैं उसे प्रशंसा-भरे नेत्रों से देखता हूं।

धारिणी झल्ला उठती है, "तू नादान है। अभी इन बातों को नहीं समझ सकती। राज्य! राज्य क्या एक है? राज्य अनेक हैं। एक को दूसरे से डर रहता है। परिवार भी एक-दूसरे से डरते हैं कि नहीं? ईर्ष्या ही इस सबका कारण है।"

धारिणी वसु की ओर देखती है जैसे—कुछ तेरी समझ में भी आया? परंतु वह उत्तर नहीं देती। धारिणी चली गई है।

मैं कहता हूं, "बेटी! यह लोक अपनी मान्यताओं से चलता है। व्यवहार का सत्य सबसे बड़ा सत्य माना जाता है।"

वसु का मन शायद भारी हो गया है। उसी समय विरजा आती है, रुद्रवर्मा की पुत्री।

विरजा ने वसु से आकर कहा है, "चलो राजकुमारी।"

"कहां सखी।"

"युद्ध में।"

"युद्ध कहां है?"

"स्त्रियां कब डरी हैं राजकुमारी?"

"पर युद्ध प्रारम्भ हो गया?"

"अब हो ही जाएगा। अंगदेश में तो स्त्रियों को ही जाना पड़ेगा लड़ने।"

श्यामला आकर पूछती है: "मंगला यहां है?"

विरजा हंसकर कहती है, "युद्ध में चली गई क्या?"

लड़की ठिठोली कर रही है। क्या अब मेरा इतना भी भय नहीं रहा है! भय क्या है? मैं सोचता हूं, मर्यादा! परन्तु मर्यादा शक्ति से ठहरती है। और शक्ति क्या है! वही युद्ध! मैं चुप रह जाता हूं।

पता चलता है कि मंगला ने तो दासी सुलक्षणा से कहा था, "वत्स के सैनिक बड़े बर्बर हैं। वे हमें आकर यहां अपमानित करेंगे। हम तो दास हैं। हमें क्या है दासत्व करना है। प्राण क्यों गंवाएं हम! यहां तो विनाश होकर रहेगा क्योंकि यहां राजा का स्थान तो ले लिया है एक लड़की ने। वह क्या वत्स के धनुर्धर और वीर खड्गधारियों का अपनी सुरीली आवाज से मुकाबिला कर लेगी! मैं यहां नहीं रह सकती।"

और सच तो यह हुआ कि अपने प्रेमी दण्डधर के साथ इसी हालत में मंगला भाग गई है।

यह भी खबर आने लगी है कि नागरिक अपने ग्राम-भवनों की ओर भी ध्यान दे रहे हैं। युवतियां और लड़कियां ग्रामों में छिपाई जा रही हैं, जहां वत्स के योद्धा नहीं पहुंच सकेंगे। आतंक छाया हुआ है।

सारे प्रासाद में यही हाल है।

वसु कहती है, "पिता, तो युद्ध की घोषणा कर दीजिए न?"

मैं हंसकर कहता हूं, "उसके लिए घोषणा क्या होगी बेटी। वह तो क्षण भर में हो जाएगी।"

दासी सुलक्षणा आकर कहती है, "देवी ने राजकुमारी को बुलाया है।"

वसु पूछती है, "क्यों?"

सुलक्षणा कहती है, "देवी की आज्ञा है कि ऐसे संकट में कुमारी अंतःपुर में रहे यही उचित है।"

वसु मेरी ओर देखती है।

मैं उसकी आंखों में विवशता भी देखता हूं और विक्षोभ भी। परन्तु यह निर्बलता का चिह्न है।

मैं कहता हूं, "जाओ। मां से कहो कि जीवन एक बार मिला है, उसके लिए डरने की आवश्यकता नहीं। परंतु मां चाहे तो तुम वहीं रहना।"

उसके जाने के बाद मैं सोचने लगा हूं, [illegible]
अब मैं सोच नहीं पाता बाहर [illegible]

मैं चौंक उठा हूं।

दण्डधर ने वेग से घुसकर [illegible]
सेनापति रुद्रवर्मा इसी समय [illegible]

"आने दो!" कहकर मैंने [illegible]

बिखरे बालोंवाला सेनापति [illegible] है। [illegible]
है। मैंने अभिवादन सिर हिलाकर [illegible]
है।

"महाराज!" वह कहता है, [illegible]
है! मेरी पुत्री विरजा कहती थी कि [illegible]

"रुद्रवर्मा!" मैं [illegible] कहता हूं। वह [illegible]

सेनापति का चेहरा [illegible] है। [illegible]
देव! महाराज की जय! [illegible]
पराक्रमी दधिवाहन की! [illegible]
वाले सिंधु जैसे विक्षुब्ध [illegible]
तूफान से टकरा था! और महाराज! [illegible]
की लगाम हाथ में आ गई है। [illegible]
करना चाहें, तो मैं [illegible]
शतानीक! क्या है शतानीक! [illegible]
है! अच्छा बड़ी नहीं [illegible]
क्षत्रिय हूं "मैं युद्ध करूंगा और [illegible]
खड्ग से कौशाम्बी को [illegible]
महाराज!"

"और वह भी क्षत्रिय है, [illegible]
मुस्कराकर कहता हूं, "कुरुक्षेत्र में क्या हुआ था, [illegible]
हो गए थे। भाई से भाई [illegible]

रुद्रवर्मा जैसे तैयार ही है। वह स्वर उठाकर कहता है, "महाराज ! पर आपने वे चीत्कार नहीं सुने जो आज सीमाप्रांत में गूंज रहे हैं। स्त्रियां मुझसे पूछ रही थीं कि सेनापति ! कब निकलेगा म्यान से यह तुम्हारा खड्ग !—मैंने कहा है कि यदि आज मुझे महाराज आज्ञा न देंगे, तो सेनापति के रूप में नहीं, रुद्रवर्मा के रूप में कल तुम मुझे अपने बीच में पाओगे।"

द्वार पर कुछ हलचल होती है। स्वर सुनाई देते हैं।

"भीतर जाने दो !"

"ठहरिए, सेनापति गए हैं।"

"तब तो मैं जाकर रहूंगा।"

नंदक घुस आता है। उसके कपड़ों पर धूल है।

"श्रेष्ठि नंदक !" रुद्रवर्मा कहता है, "आ गए ! आओ ! आज रुद्रवर्मा विद्रोही हो रहा है। तुम भी साक्षी बनो। लोक कहेगा कि रुद्रवर्मा ने जो अन्न खाया उसका धर्म पालन नहीं किया; किंतु श्रेष्ठि नंदक ! मैं उसी अन्न से बने रक्त से अपने राजा का भय खोऊंगा।"

नंदक हतबुद्धि-सा खड़ा रह गया है।

"राजन् !" वह चिल्लाता है, "यह क्या हो रहा है ! क्या आज आप यह भी सुनने को तत्पर खड़े हैं ? मैं वैश्य हूं किंतु यदि आप चाहें तो खड्ग भी उठा सकता हूं। देव ! आप इतने निराश क्यों हैं !"

"दधिवाहन पर सबको क्रोध है," मैं कहता हूं, "तुम मुझे कायर समझते हो ! नंदक ! रुद्रवर्मा ! कायर की तरह मैं भागूंगा नहीं। मैं तुम्हें वीरता का पाठ पढ़ाना चाहता हूं। आज तक की वीरता से आगे बढ़ी हुई वीरता। एक नये युग का प्रारंभ करूंगा मैं ! परिषद् को निमंत्रित करो। कहो कि महाराज दधिवाहन परिषद् का आवाहन करते हैं। वत्स की बर्बरता का अङ्गदेश को उत्तर देना होगा। सबसे पहला उत्तर दधिवाहन देगा। रक्त का मूल्य रक्त से चुकाया जाएगा। हत्या का बदला लिया जाएगा। अभिमान की बर्बरता को मनुष्य की महानता से पराजित किया जाएगा। लोभ को स्वार्थ के छद्म से अलग करके लोक के कल्याण का बीज डाला जाएगा।"

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

जाना चाहता था। चक्रवर्ती वन जाना चाहता था। परंतु चक्रवर्तित्व को उसने क्षुद्र समझा। सोचा कि यह मनुष्य का सत्य नहीं था। और भी बड़ा सत्य खोजने निकला वह! किंतु देव! वह अलग चला गया। सबको छोड़ गया। उसने अपना पथ पकड़ लिया देव! धनधान्य से भरे खेतों पर उसने घोड़ों की रौंद का प्रयोग नहीं किया। आप व्यक्ति की निष्ठा को लोक पर लाद रहे हैं। यह क्या उचित है? क्या वर्बर विध्वंसक इन देवोपम बातों से सुधर सकता है? सच कहता हूं आर्य! यह न समझें कि यह सुवर्ण शृंगार मुझे बहुत प्रिय है। आप ही सोचते हैं, ऐसा क्यों सोचें देव! और लोग भी इस लोक के विषय में कुछ न कुछ सोचा ही करते हैं! यह वैभव तो कोई भी अपने साथ नहीं ले जाएगा। रह जाएगा सब कुछ यहीं, मानता हूं मैं भी, यह प्रासाद, यह नगर……

"नहीं नंदक! तुम भूल कर रहे हो!" मैं कहता हूं, "मैं वैराग्य नहीं चाहता मैं छोड़कर नहीं जाना चाहता। मैं इस सबके भीतर रहकर इसे ठीक करन चाहता हूं।"

"मैं आपका बहुत आदर करता हूं देव," नंदक कहता है, "किंतु यह मनुष सदा से ही रहा है और रहेगा। सेना बनी है धर्म की स्थापना के लिए। ज दण्ड नहीं रहता तब अधर्मी सिर उठा लेते हैं।"

"अधर्म! विजयी को लोक धर्मरक्षक कहता है। जिसका खड्ग अधिक हत करता है, उसीके खड्ग का लोक जयगान करता है। पशुबल ही यदि शक्ति आधार है तो धर्म क्या उसीपर आश्रित नहीं है? मुझे तो चारों ओर एक ही र दीखता है, वह है भय! नंदक! भय ही सबको चला रहा है। मनुष्य जब नहीं है, तो वह भय से क्यों आतंकित हो रहा है? क्योंकि वह मनुष्यत्व के ग को अभी तक नहीं पहचान पाया है। हम पशु से ऊपर हैं न? नंदक! हम क्यों करें?"

"भय देव!" नंदक आश्चर्य से कहता है, "आप यह मानकर चल रहे सब लोग अच्छे हैं?"

"हां नंदक! जन्म से कोई बुरा नहीं होता!"

"किंतु कर्म से तो हो जाता है?"

"हां नंदक ! साहस एकत्र करो तो देखोगे कि यह धर्म का विभेद इस लोक में फैले मोह, लोभ, घृणा और ईर्ष्या से जन्म लेता है।"

"ठीक रहा देव ! अब तो व्यापार ही अंगराज में चौपट होकर रहेगा। आर्य, आज्ञा दें तो कहूं ?"

नंदक हंसता है।

"क्या कहते हो श्रेष्ठि ! तराजू अलग रखकर कहना ।"

"क्यों नहीं देव ! ऐसा ही तो करूंगा। तराजू मैं उठाऊं ही क्यों जब क्षत्रिय ही खड्ग उठाकर धर रहा है ! सब ही कर्मरहित हो रहे हैं !" वह कहता है, "देव, अपराध क्षमा करें। यही तो कायरता है।"

"जीवन तब तुम्हें कायर लगता है, जब एक ऊंचाई की बात होती है !"

नंदक के मुख पर कुटिल हास्य छा गया है। वह कहता है, "क्षमा करें देव ! नपुंसक यदि ऋतुस्नान करके आई स्त्री को देखकर कहे कि ओ स्त्री ! मैं तुझे गर्भाधान नहीं कराऊंगा, क्योंकि इस कार्य में एक नये प्राणी का जन्म होगा। प्राणी फिर लोक में पाप करेगा। अतः इस शृंखला को आगे बढ़ाया ही क्यों जाए ? तो कैसा रहेगा देव ! वासना को जीतने और संयम की महत्ता को प्रतिपादित करने के पहले जानते हैं आर्य ! क्या आवश्यक है ? पौरुष का पहले परिचय देना होगा।"

"अर्थात् पुण्य की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिये पाप करना होगा। इसका अर्थ तो यह है कि तुम पाप को मूलतः अधिक गौरवमय समझते हो। और तुमने प्रजनन-धर्म जैसे निर्माण को पाप में कैसे गिन लिया ?"

"क्योंकि यह पशुत्व पर आधारित है।"

"तुम नंदक ! पुरानी दुनिया मे रहते हो !" मैं कहता हू।

"देव, आपकी प्रजा होने के नाते, अब शीघ्र ही नई दुनिया मे पहुच जाऊंगा, क्योंकि इस दुनिया मे तो शतानीक रहने नहीं देगा।"

परिषद् जमा हुई है।

गण्यमान्य सभ्य आकर अपने-अपने आसनों पर बैठ गए हैं। राज्य के अमात्य उनमे आगे बैठे हैं। द्वारों पर दण्डधर खड़े हैं। राजकुल की स्त्रियां दुमंजिले अलिन्द मे बैठी हैं। बाहर के विशाल प्रांगण मे योद्धा खड़े हैं, सन्नद्ध। उनके बाद दूर

मैदान है जिसमें प्रजा के लोग खड़े हैं। चंपानगरी में आज बड़ी भारी

नंदक आया तो साथ में लाया है जीमूतवाहन को। वे कह रहे हैं, दे मुझे नंदक ! मेरा यहां कोई काम नहीं है। मुझे राजविद्रोह के अपर कित मत करवा। तू मेरे मित्र का पुत्र है।"

नंदक कह रहा है, "आर्य ! आपके एक-एक पसीने की बूंद पर गिराएगा। न हो तो सभ्यों से पूछिए। आपके बिना वे क्या यहां बैठेंगे

सभ्यों ने हर्षध्वनि की है और रुद्रवर्मा उठकर कहता है, "आ समय आया है कि उठकर विक्रम दिखाना होगा। अङ्गराज्य किसी की मनचाही का अखाड़ा नहीं है। प्रजा को उत्तर देना होगा। परिषद् है, निरंकुश राज्य नहीं।"

मैं पहुंचता हूं तो संदेह की लहर दौड़ गई है।

एक उत्साहहीन स्वर उठता है, "महाराज की जय !"

परंतु प्राणहीन ! सब गंभीर ! सब मुझसे कुछ क्रुद्ध ! मैं सब हीन !

मैंने अभिवादन स्वीकार किया है और खड्ग बगल में रखा है परंपरा के अनुसार मुझे पथ दिखाया है और तब मैंने सिंहासन ग्रहण सीमा प्रदेश के ग्रामीण एक ओर बिठाए गए हैं।

मैंने कार्य प्रारंभ करने की आज्ञा दी है।

कार्यस्थ ने उठकर अमात्य सुषेण से कुछ कहा है।

अमात्य सुषेण पुकारता है, "आर्य जीमूतवाहन !"

वृद्ध जीमूतवाहन उठकर कहता है, "देव ! और सभ्यगण ! मु है कि मैं परिषद् की ओर से, राज्य की प्रजा की ओर से, स्त्रियों, व चैत्यों तथा राज्य के समस्त धर्म की ओर से आपके सामने कुछ नि आज्ञा है देव !"

मैं कहता हूं, "आर्य ! परिषद का निर्णय राजा को निरंकुशता

वृद्ध गिर झुकाता है और कहता है, "आर्य !"

परिषद् में एक हलचल हुई है जैसे सब अब तैयार हो गए हैं। जीमूतवाहन कहता है, "अंगराज्य छोटा है, किन्तु वह आज तक वत्स, मगध, अवंति और कोसल की भांति प्रसिद्ध रहा है अपने पराक्रम के बल पर। वह काशीराज्य की भांति कन्याशुल्क में नहीं दिया जा सकता !" हर्ष की एक लहर दौड़-सी गई और जीमूतवाहन ने फिर कहा, "किन्तु आज अंगराज्य अभी तक मोह-निद्रा में सोया हुआ है। क्यों ? वत्स की सेना सीमा पर उजाड़ रही है हमारे हरे-भरे खेतों को और नगर चुप बैठा है ! मैं पूछता हूं क्यों ? क्यों नहीं अभी तक सेनापति ने रक्षकों को भेजा ! मैं रुद्रवर्मा पर राजद्रोह करने का अपराध लगाता हूं। प्राणदण्ड दिया जाए क्योंकि उसने युद्ध के समय में कायरता दिखाई।"

कोई नहीं बोलता। सेनापति उठ खड़ा हुआ है। सिर झुकाकर रुद्रवर्मा स्वर उठाता है, "आर्य की जय ! मैं अपराध सिर पर लेता हूं। मैंने अभी तक कायरता दिखाई है। किन्तु आज तक सेनापति राज्य की सर्वोच्च शक्ति—महाराज—के अधीन रहे हैं। यदि परिषद् कहती है कि मैंने महाराज की आज्ञा न पाने के कारण भी रुककर भूल की है, तो मुझे प्रायश्चित्त करने में कोई आपत्ति नहीं है। मुझे या तो लड़ने भेजा जाए या जीवित तुषानल में भस्म करवा दिया जाए।"

नदक तो चिल्ला ही पड़ता है, "तो सेनापति ! क्या आप कहना चाहते हैं कि अंगराज्य युद्ध का बदला नहीं लेगा ! आपने परिषद् से पूछा ? प्रजा के लोहू का बदला लेना क्या परिषद् का धर्म नहीं है ? खंड-खंड हो जाए यह राज्य यदि यहां के क्षत्रिय भयभीत होकर राज्य को बेच देना चाहते हैं ! परिषद् से मैं पूछता हूं। युद्ध या समर्पण ! युद्ध या समर्पण !!"

गंभीर घोष उठता है।

परिषद् का स्वर एक है, "युद्ध ! युद्ध का बदला युद्ध ! हत्या का बदला हत्या ! बलात्कार का बदला बलात्कार ! अग्नि का बदला अग्नि ! ध्वंस का बदला विध्वंस ! नाश का बदला सर्वनाश !"

परिषद् के भवन के पाषाण कांपने लगे हैं। उस स्वर को सुनकर बाहर योद्धा हुंकारने लगे हैं और अनंत प्रतिध्वनि की भांति वह गर्जन कई गुना होकर बाहर

प्रजा के कण्ठों में धकधकाने लगा है। चंपा नगर आग का शोला बनकर धधकने-सा लगा है।

जब कोलाहल शांत होता है, सब मेरी ओर देखते हैं।

मैं कहता हूं, "किंतु हिंसा का अंत कहां है सभ्यगण ! पशुत्व का उत्तर क्या पशुत्व है ? शतानीक की बर्बरता क्या इस तरह कुचली जा सकती है ? अंगराज्य निर्बल नहीं है, वीरों की खान है। अंग ने पहले भी वत्स के अभिमान को खंडित किया है। वीर ही ऊंचे प्रयोग कर सकते हैं। अतः यदि हिंसा का पथ न अपनाया जाए तो !!'

"हिंसा !" जीमूतवाहन चिल्लाता है, "बर्बर आ रहा है, हमारी बहिन-बेटियों को नंगा करके उन्हें असम्मानित करने। शतानीक की सेना में कुरु, पञ्चाल ही नहीं, मद्र तक के लोलुप भेड़ियों जैसे सैनिक हैं। वे उच्चस्तर के प्रयोगों की शिक्षा लेने बैठे रहेंगे ? जो लोक में केवल तपस्वियों के लिए साध्य है, वह आप बर्बर और पसीने की बदबू से भरे बर्बर लोलुप सैनिकों को सिखाएंगे, वह भी तब जब कि हमारे घरों में से आग की लपटें निकल रही होंगी ?" जीमूतवाहन का भर्राया ..र परिषद् पर थर्राने लगा, "हम अपने बच्चों की चीत्कारों को सुनते हुए उन आक्रमणकारियों से यह कहेंगे कि भाई देखो ! आत्मा तो सबमें समान है, क्यों व्यर्थ पाप करते हो ? राज्य न हम साथ ले जाएंगे, न तुम ले जाओगे !"

परिषद् में अट्टहास उठ रहा है।

जीमूतवाहन विनम्रता से सिर झुकाता है और कहता है, "देव ! अब भी समय है। एक इंगित कर दें और देखें कि अंगराज्य क्या है ! कहिए—युद्ध !"

मैं उठकर कहता हूं, "मैं इसे स्वीकार नहीं करता ! युद्ध से युद्ध, युद्ध से युद्ध ! शांति से शांति ! शांति से शांति ! युद्ध से शांति नहीं—विनाश। शांति से युद्ध नहीं—निर्माण और समृद्धि ! इन दोनों का भेद मूलभूत है और सदा ही बना रहेगा।"

"तो परिषद् स्वतंत्र है ?" वृद्ध जीमूतवाहन पूछता है, जैसे उसे मुझसे ऐसी आशा नहीं थी।

"परिषद् स्वतंत्र है।" मैं कहता हूं, "आर्य ! वह स्वतंत्र ही रहेगी। किंतु मैं

अंगदेश का राजा हूं अतः परिषद् को सुझाव देना मेरा अधिकार है। इसलिए सुझाव देता हूं।" मैंने देखा सब उत्सुक थे। मैंने सिर उठाकर कहा, "सज्जन सुनें! एक बार, एक बार मुझे अवसर दें। आप अपनी तैयारी करें। परन्तु मुझे एक अवसर दें!"

"आज्ञा आर्य!" जीमूतवाहन कहता है, "आप क्या आज्ञा देते हैं!"

"इस बुराई की जड़ हमारा विश्वास है", मैं कहता हूं, "यह मान लिया गया है कि वीरता इस लूट-मार में छिपी हुई है किंतु इसमें मनुष्य का निर्माण नष्ट हो जाता है। उसे बार-बार बीभत्सता का सामना करना पड़ता है। कला और विद्या का युद्ध में विनाश होता है। हमारी वर्णधर्म की मान्यता ही हमारे अपराधों को मान्यता देती है। क्षत्रिय का धर्म ही बर्बरता कही गई है। इसीलिए इस क्रूर कर्म को करते हुए क्षत्रिय को लज्जा नहीं आती। जनतांत्रिक युग नहीं है। आयु के ढलान पर है। उसे इतनी तृष्णा किसलिए हुई? क्योंकि हमारी यह प्राचीन भूमि ऐसे दर्शन को पालती रही है, जिसमें लूट को भी उचित कहा जाता रहा है। एक राजा दूसरे पर आक्रमण करता है। स्त्रियों को उठा ले जाता है, और निरीहों की हत्या करता है। बाकी लोग चुप रहते हैं कि हमें इन सबसे क्या मतलब! हमारे स्वार्थ अलग-अलग हैं।"

"यह कल्पना की सुषमा है देव!" जीमूतवाहन कहता है, "आखिर यह अलग-अलग राज्य आए कहां से?"

"मृत्यु का भय होता है?" मैं कहता हूं।

"मृत्यु का भय!" जीमूतवाहन कहता है और हंसता है और सहसा वह हाथ उठाकर ऊंचे स्वर से कहता है, "परिषद् पुकारकर कहे कि क्या जीमूतवाहन ने कभी नागराज के लिए मरना अस्वीकार किया है?"

"कभी नहीं!" एक स्वर उठता है।

"देखा आर्य!" वृद्ध जीमूतवाहन मुझे दिखाकर कहता है, "अब भी विश्वास नहीं हुआ?"

"तो एक बार, केवल एक बार मुझे अवसर दो। परिषद् अपना युद्ध-संचालन-कार्य रोके नहीं। केवल एक बार मुझे अपना प्रयास करने की स्वीकृति चाहिए।

परिषद् मेरी ओर विश्वास से देखे और स्वीकृति दे।"

"उसके बाद…" जीमूतवाहन कहता है, "तब तक प्रजा को हम लुटता, कटता, जलता भी देखते रहें; किंतु उस प्रयोग के असफल होने पर, उसके बाद क्या होगा?"

"युद्ध!" मैं ललकारकर कहता हूं, "युद्ध! मृत्यु तक युद्ध! शताब्दियों तक बर्बर की पराजय की गाथा लिखने के लिए युद्ध! बच्चे-बच्चे का युद्ध! अंग की सेना का मैं स्वयं सेनापति बनूंगा और शतानीक से सबसे आगे मैं लड़ूंगा।"

जयघोष होने लगा है। भीम गर्जन। दिगंत हिल उठे हैं। सन्नद्ध नागरिकों के ठट्ठ बाहर आवेश से भर गए हैं।

"महाराज ने आज्ञा दे दी।"

"कौन है शतानीक! है ही कितना।"

"एक बार फिर वत्स का अभिमान खंडित होगा।"

"हत्यारा अभिमानी चूर-चूर हो जाएगा। अबकी बार ऐसा कुचलेंगे कि कभ सिर न उठा सके।"

नागरिकाएं गाने लगी हैं, "ओ वीरो! उठो! तुम्हारे देश पर संकट आर है। मगध के पश्चिम से जो सेना आई है वह लुटेरों की सेना है। वह जंगलों में छि कर आई है। मगध, कोसल और वैशाली—तीनों के साथ हम शांति से रहे हैं अं रहते आए हैं। पर यह सुदूर का लुटेरा है शतानीक। बड़ा लोलुप है। वह इत दूर शासन करने नहीं आया है, वह हमें लूटने आ रहा है। वह मगध को दोनों अ से घेरना चाहता है, पर यह उसका असंभव स्वप्न है। वह तुम्हें कब तक कु सकता है!"

और इन गानों का असर ऐसा पड़ने लगा है कि लोगों में जोश दुगना-दु होने लगा है।

वालकों की टोलियां बन गई हैं जो कभी चंपा नदी के मांझियों तक जा और उनके गीत सुनती हैं, कभी कुछ करती हैं। मैं सोचता हूं। शतानीक का द साहस हुआ कैसे? वह गंगातीर के वन में छिपकर आया है। इस समय कोसल उसपर उत्तर से टूट पड़े तो? अवन्ति के लिए भी वत्स खुला पड़ा है। और का बिंबसार? तीन-तीन की चिंता न करके उसका छिपकर मगध के उत्तर से

प्रांत में से चंपा में चढ़ आना क्या साधारण बात है ? फिर गंगा के उत्तर में तो रही है लिच्छवियों की शक्ति ! हम जो देखते थे कि हमारी सैनिक शक्ति क्या कम है, वह कम कहा है! लिच्छविगण को वत्स से कम खतरा है ? इस समय तो बहुत आसानी से वत्स की सेना को मारा जा सकता है ! गुप्तचर यदि वैशाली को भड़का दे, मगध को भड़का दें, शाक्यों को भड़का दें। तीन सेनाएं घेर लें वत्स की सेना को। दक्षिण-पश्चिम में तो कलिंग है, फिर वंग है। इधर से तो वह चंपा तक आ ही नहीं सकता। अतः उसकी सेना केवल उत्तर में है।

किन्तु यह तो हुई कूटनीति। इससे सत्य की विजय कहां हुई ? इसमें वत्स पराजित तो हुआ, किन्तु उसकी हिंसा नहीं मिटी ?

रुद्रवर्मा पथों पर लोगों को उत्साहित करता है। मैं जीमूतवाहन को अपने काम पर भेजकर प्रतीक्षा कर रहा हूं। मुझे आशा है कि काम हो जाएगा। परंतु मुझे नहीं मालूम है कि मेरे अनजाने ही श्रेष्ठि नदक और रुद्रवर्मा एक काम और कर रहे हैं। एक ओर तो उनके प्रचार से अंगदेश का एक-एक बच्चा लड़ने को मतवाला हो रहा है, दूसरी ओर उन्होंने पुरानी संधियों का हवाला देकर शाक्य, लिच्छवि, मागध और कोसलों को गुप्तचरों द्वारा यह सूचना भिजवा दी कि शायद वत्स का अंग में मिल जाने का इरादा हो गया है, क्योंकि मृगावती और धारिणी बहिनें हैं। इससे सबको खतरा पैदा हो गया है। मैं इसके विरुद्ध हूं, परन्तु वह यह काम परिषद् में सलाह करके चुपचाप कर चुके हैं। जय, जय ही उनका एकमात्र उद्देश्य है। उसके लिए वे सब कुछ कर सकते हैं। उनकी इच्छा है कि कोसल, शाक्य, लिच्छवि और मागधों की मार से वत्स सेना खिंचाव में आ जाए और उसका सम्बन्ध उसके अपने राज्य से छूट जाए। उस समय अन्यों के साथ ही अंगदेश की चम्पापुरी से सेना निकले और वत्स की सेना के हिरौल को नष्ट कर दे। गुप्तचर महासेन चण्डप्रद्योत के भी पास भेजे जा चुके हैं कि वत्स की सेना गंगातीर पर फंसी पड़ी है, तुम विदिशा की ओर से आक्रमण कर दो। तुम्हें बढ़ता देखकर यदि कोई टोकेगा तो तुम मगध और कोसल से वत्स को बांट लेना। वसुमती ने यह सुनकर कहा है, "पिता, क्या राजनीति ऐसी ही है ?"

मैं कहता हूं, "पुत्री ! यह लोक में आत्मरक्षा के पुराने तरीके हैं। इसको

इससे भिड़ा दो। इसको उससे भिड़ा दो। तुम जो सुना करती हो न? कि पहले भी अंग के वीरों ने वत्स के वर्बरों के दांत खट्टे कर दिए थे, वह भी इन्हीं चालों का फल था। यह सच है कि उसी तरीके से वत्स को मारा जा सकता है, पर देखो पुत्री! यह मार्ग मेरी समझ में अच्छा मार्ग नहीं है। पुत्री! यह रुद्रवर्मा, यह नंदक आज राज्य के रक्षक बनते हैं न? यदि मैं अपना परम्परात्मक रूप धारण कर लूं तो मेरे सामने बिल्ली बन जाएंगे। परन्तु मैं नया प्रयोग कर रहा हूं अतः वे मुझे उत्तर भी देते हैं, अवज्ञा भी करते हैं। यह मुझे बुरा लगा था, परन्तु मैंने सोचा कि जो आतंक से दबाए जाते हैं वे उसके हटते ही सिर भी उठाते हैं। इन्हें प्रेम से जीतने के लिए दूसरा मार्ग अपनाना होगा।"

उधर जीमूतवाहन पहुंचता है। वन-प्रदेश में शतानीक डेरा डाले है।

"कौन है?"

"देव! मैं हूं जीमूतवाहन। अंगराज का दूत। वत्सराज के लिए संदेश लाया हूं।"

शतानीक कहता है, "कहो दूत? क्या संदेश है?"

वहां घने पेड़ों की छाया है। जीमूतवाहन एक आसन पर बिठाया गया है।

"संवाद यह है कि अंगराज ने इस आक्रमण का कारण जानना चाहा है।"

"आक्रमण! कहां है आक्रमण!"

जीमूतवाहन कहता है, "देव! क्या आखेट करने इतनी दूर आए हैं?"

"क्या हमें अपने विषय में अंगराज को प्रत्येक बात बताना अनावश्यक है?"

जीमूतवाहन हंसकर कहता है, "देव! अंगराज्य में आपके शिकारी सैनिक खेतों और गांवों में शायद शेर-चीते ढूंढ़ने जाते हैं?"

परंतप शतानीक भौं उठाता है।

"हां देव!" वृद्ध जीमूतवाहन कहता है, "शायद शहद के छत्ते के भ्रम में आपके सैनिकों ने मधुविलिया ग्राम में अनाज लूट डाला। मैं समझता हूं यह भी भ्रम में हो गया!"

"क्या कहना चाहते हो तुम दूत?"

"यह युद्ध किसलिए महाराज !" जीमूतवाहन पूछता है।

"युद्ध दो समर्थों में होता है दूत ! अंगराज्य जैसे तो वत्स में छोटे-छोटे कई विषय हैं। और फिर तुम क्षत्रिय लगते हो ! शौर्य के विषय में क्षत्रिय पूछे यह क्या आश्चर्य की बात नहीं है ?"

"हां देव ! यही मैं सोचता था," जीमूतवाहन कहता है, "इस छोटे-से अंग-राज्य का तो स्वयं महाराज को पुराना अनुभव है। वह क्या महाराज इतनी जल्दी भूल गए होंगे ? फिर भी पूछता हूं कि शौर्य के लिए क्षत्रिय क्या यों ही हत्या करता फिरेगा ?"

शतानीक तिलमिला गया है। वह टेढ़ी आंखों से जीमूतवाहन की ओर देखता है और कहता है, "दूत क्षम्य है, यह सत्य है, किन्तु फिर भी विनय सीखो दूत ! महाराजाओं से बातें करने का यही तरीका है ? यही सीखा है तुमने अंग-राज्य में ? आकर तुमने अभिवादन भी नहीं किया। मैंने इसपर भी तुम्हें दूत जानकर क्षमा कर दिया। परन्तु अब तुम मुझे शिक्षा भी दे रहे हो ? इस दुस्साहस का परिणाम अंगराज्य के लिए क्या होगा जानते हो ?"

"एक हाथ से खड्ग उठाकर दूसरे से विनय सिखाने के आपके गौरव का मैं जयजयकार करता हूं। मेरी मृत्यु, भट्टारकपादीय जीमूतवाहन की मृत्यु, वत्स की सेना को एक समय खंड-खंड करके नष्ट करनेवाले क्षत्रिय जीमूतवाहन की मृत्यु कोसांबी के लिए क्या होगी, यह भी न भूलें महाराज।"

वृद्ध जीमूतवाहन खलबला गया है। वह फिर कहता है, "मैं संधि का संदेश नहीं लाया हूं देव ! मैं यह कहने आया हूं कि इन निरीह सैनिकों की हत्या न कराइए। अपने दुरभिमान में अपने को संकट में न डालिए। जान रखिए कि अवन्तिराज वत्स की सीमा तक आ गए हैं। कोसल ने वत्स को उत्तर में घेर लिया है और महाराज बिंबसार की सेनाएं वत्स को पूर्व की ओर से घेरे खड़ी हैं। जान लीजिए अपने हृदय में देव ! मगध हमारी ओर है ! और जिस वन में आप बैठे हैं, वह मगध, शाक्य और वज्जियों की सेना से घिरा हुआ है।"

शतानीक जैसे डगमगा गया है पर बोलता है हंसकर, "मुझे डराते हो दूत ! यह असम्भव है। वत्स इतना सुदृढ़ है कि उसे कोई नहीं जीत सकता। सब कुछ

हो जाए, परन्तु एक बार अंग की धूलि को जब तक मेरे घोड़े नहीं रौंद लेंगे, एक बार जब तक उसमें मेरी सेना के खच्चर नहीं लोट लेंगे, तब तक, तब तक वत्स के वीरों को चैन नहीं आएगा !"

जीमूतवाहन उठ खड़ा होता है और कहता है, "इन्द्र आपकी रक्षा करें देव ! अंगराज्य में आकर वत्स की सेना यमद्वार से निकलेगी !"

"शांत !" शतानीक चिल्लाता है, "तुम सीमा से बाहर जा रहे हो !"

"देव ! सीमा का उल्लंघन कौन कर रहा है, यह तो प्रकट ही है। एक बार फिर चेतावनी देता हूं कि वत्स की सेना का चिह्न भी नहीं बचेगा। अतः यहीं से लौट भागने का प्रबंध कर लें, क्योंकि आपका तो अब बचकर निकलना भी कठिन है। और यह सब दया अंगराज्य ही क्यों कर रहा है वह भी बता दूं। इसलिए कि महारानी धारिणी अपनी बहिन मृगावती को विधवा नहीं बनाना चाहतीं !"

"चले जाओ दूत ! तुम अवध्य हो !"

"तो देव ! यही उत्तर है ?"

"हां दूत ! यही उत्तर है ! वत्स की सेना नष्ट हो जाए, वत्स को अन्य राज खंड-खंड करके बांट लें, परन्तु अब देखो," शतानीक खड्ग उठाता है, "यह खड्
, और तुम्हारा अंगराज्य है।"

"क्षत्रिय का विवेकहीन क्रोध प्रसिद्ध है देव !" जीमूतवाहन हंसकर कहत है, "मृत्यु के मुंह में कूदने का और ऐसा अवसर ही कहां मिलेगा। हमारा काम बचाना। आगे आपकी इच्छा। परन्तु एक बात याद रखिए ! वैशाली मगध मित्र है। इसे मुझे दे दीजिए देव !" यह कहकर जीमूतवाहन शतानीक की तलव की तरफ इंगित करता है।

शतानीक वैसे ही चिंता में पड़ा हुआ है। जीमूतवाहन घिसा हुआ व नीतिज्ञ है। उसकी बात न समझकर शतानीक कौतूहल से पूछता है, "क्या क आर्य !"

"देव के पास क्या एक भी खड्ग अतिरिक्त नहीं है ?"

शतानीक फिर झुंझला उठता है और कहता है, "दूत ! क्या परम्परा है कि दूत अवध्य है !"

"पुलिन्द की भेंट इस महाराज !" जीमूतवाहन कहता है, "और मैं कहता हूँ कि इसी शङ्ख में महाराज शतानीक और क्षत्रियों की तरह धनराज्य को नष्ट करने का दम है। वे यह चुके हैं कि जिसमें साहस हो सो बजा ले। हमारे महाराज की दया तो चाहिए !"

"अरे आओ !" शतानीक कहता है, "एक बार दिखा दो यह शङ्ख।"

जीमूतवाहन शङ्ख देकर कहता है, "आर्य ! यह शङ्ख तो धनराज्य में उदाहरण बनाकर रखा जाएगा। यही तो बताएगा कि अभिमान का फल क्या होता है। समय रहते न चेतने का फल किस प्रकार मिलता है।"

शतानीक हँसता है और कहता है, "क्षत्रिय ! तुम चतुर हो। हम प्रसन्न हैं। धन, वंश और चरित्र की अनार्य भूमियों में भी इतनी चतुरता है, जानकर हम प्रसन्न हुए। युद्ध तो होते रहते हैं। क्षत्रियों को इसलिए चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए। इतनी तरह, और चाण्डालों में भी, रोना-धोना नहीं होता। यह स्त्रियों का सा रोना इधर ही अधिक सुनाई देता है। धन के प्रति यह नारी दृष्टिकोण—अहिंसा, हिंसा" यह सब मैं सुनता हूँ यहाँ ? मैं नहीं समझता। आगे और संकट है तो घबराना क्या ? होने दो। सब ठीक हो जाएगा। तुम वीर हो दूत ! हम तुमसे प्रसन्न हैं। जा सकते हो !"

जीमूतवाहन के लौटने का संवाद धरा में बिजली की तरह फैल गया है।

क्या होगा अब ! सब यही पूछते हैं।

चंद्र बहुत परेशान है। किसी का मार्ग वेणाक्षी ने रोक रखा है, किसी का राजगृह ने। गण-मार्ग की सुरक्षा पर किसी को भी विश्वास नहीं है। बातों में ही कुछ मार्ग अटक गए हैं।

उधर धनदों में बेचैनी है। शतानीक का काम है धनराज दोनों पर [illegible] रखना। लूटना और भाग जाना। निश्चय ही यह जानता है कि धन उत्पन्न हो सकता। मगर उसे नहीं सोचना कि वह दोनों तरफ से उसे घेर ले। क्योंकि है कि उन्हें दुष्करता भय है। अपने धनों का, और अपने सम्मान का भी। सम्मान का मद और भी दिखा देता है। बल्कि धनद आतंकित है। और ग

रिक कहते हैं कि वत्स जब राज्य नहीं कर सकता और केवल लूटना ही जब उसका उद्देश्य है, तो वह कोई नियोजित क्रम से थोड़े ही आक्रमण करेगा। उसे तो वत्स में भी चोट पड़े तो ठीक रहे।

सैनिकों को नगर-ग्रामों में बड़ी सहूलियतें हो गई हैं। बल्कि ग्रामों में वे स्त्रियों का भी भोग करने लगे हैं चुपचाप, जो स्वयं उन्हें प्रसन्न करती हैं। सैनिकों से वैसे ही लोग डरते हैं और अब तो वे रक्षक भी बन गए हैं। मैं इस समस्त अनाचार को देखता हूं और सोचता हूं कि किस तरह इस सबको सदा के लिए मिटा दिया जाए!

श्यामला धारिणी से कहती है, "महाराज अब क्या करेंगे देवी!"

धारिणी कहती है, "वत्स तो बर्बरता पर उतर आया है। क्षत्रिय प्रतिहिंसा का कोई कारण नहीं। संवाद आ रहे हैं कि वत्स के वैश्य इस युद्ध के विरुद्ध हैं। उनके भी तो सार्थ अंग, वंग में फंसे हुए हैं। परन्तु कुछ हैं जो अंग की पराजय में ही समृद्धि देखते हैं।"

धारिणी मेरे पास आती है और पूछती है, "देव! अब क्या होगा!"

मैं कहता हूं, "युद्ध!"

धारिणी प्रसन्न हो गई है। कहती है, "आर्य विजयी होंगे। स्वामी! राजनीति भी कैसी है कठोर! मृगावती की कुछ भी नहीं चली! युद्ध ही होगा!"

"हां, यह रुकेगा नहीं!" मैं कहता हूं, "सुन नहीं रही हो कि वत्ससेना आक्रमण कर रही है। शीघ्र ही वह राजधानी पर भी आक्रमण करेगी।"

धारिणी कांप उठती है।

वह कहती है, "देव! तब तो डटकर युद्ध करना होगा।"

मैं हंसकर कहता हूं, "निश्चय!"

वसु आ गई है।

वह प्रणाम करके कहती है, "आर्य! सेनापति ने सूचना दी है कि स्त्रियां सम्मान की रक्षा में तत्पर रहें।"

"पुत्री! तू डरती है?" मैं पूछता हूं।

वसुमती मां की ओर देखती है, फिर मेरी ओर; तब उसके होंठों पर मुस्कराहट-सी फैल जाती है। वह कहती है, "किससे देव!"

"शत्रु से !"

"मैं क्यों डरूंगी !"

वह शांत है। धारिणी कुछ विस्मय से, कुछ आतंक से दबी-सी खड़ी है।

मैं कहता हूं, "युद्ध सिर पर आ गया है देवी ! इसलिए मुझे तत्पर होना चाहिए। मेरी साधना का फल आ गया है। अब या कभी नहीं। बहुत बड़ा दांव है, परन्तु इसकी सफलता पर सब कुछ निर्भर है। है न वसु ?"

धारिणी समझी नहीं है। वसु कहती है, "पिता ! बर्बर से सामना करना है। इसमें आत्मबल चाहिए, यही न कह रहे हैं आप ?"

"हां बेटी," मैं कहता हूं, "तू समझ रही है। यह वीरता नहीं है। युद्ध एक पाप है, एक षड्यन्त्र है। इस षड्यन्त्र में मनुष्य अपने झूठे अहंकार को तुष्ट करता है। उसके पीछे कोई ऐसा आधार मिल जाता है कि राजा के अतिरिक्त भी अन्य लोग वह रक्तपात चाहते हैं। इस बार वत्स की सेना को लूट की आवश्यकता है और लूट के लिए अपनी सीमा के बाहर के लोग ढूंढे जाते हैं।"

"हां पिता," वसु कहती है, "बात यही है।"

"यही नहीं," मैं कहता हूं, "सीमा का विस्तार करते समय भी अन्य स्वार्थ बीच में आ जाते हैं।"

धारिणी समझने लगी है। वह कहती है, "देव ! यह तो स्पष्ट ही है कि लोभ युद्ध का मूल कारण है, परन्तु उससे होना क्या है ! वह तो होना ही है!"

"इसका निराकरण ही तो सोचना है देवी!" मैं कहता हूं, "और यह सब आडंबरों में छिपा लिया जाता है। मनुष्य बड़ा चतुर होता है। वह अपनी कुटिलता को सदैव न्याय का आवरण देना चाहता है। मैं यही स्पष्ट कर दूंगा। इस बार का युद्ध नया युद्ध होगा। हत्यारे में लज्जा जगानी होगी। उसको मनुष्यत्व का पाठ सिखाना होगा।"

मेरा मन उल्लास से भर गया है।

धारिणी कहती है, "देव ! मुझे भय हो रहा है।"

"क्यों देवी ! मेरे रहते तुम्हें भय क्यों ? असफलता तो हमारे पक्ष में नहीं है। सुअवसर है यह ? जीवन का अन्त यदि ससम्मान मृत्यु में होता है, तो उसके लिए

तैयार रहना चाहिए।"

धारिणी मेरी ओर देखती है जैसे बहुत बड़ी घुमड़न भीतर ही भीतर उसे व्याकुल कर रही है। मैं बाहर आ गया हूं और रथ पर चल पड़ा हूं।

परिषद् आज खचाखच भरी है। वृद्ध जीमूतवाहन के लौट आने पर सबमें एक उत्सुकता छा गई है। सब जानते हैं कि वह शतानीक से मिल आया है और उससे जो बातें हुई हैं उनका फल अच्छा नहीं निकला है।

मैं कहता हूं, "मेरा प्रयत्न सफल नहीं हुआ सभ्यगण!"

सब सुनते हैं और सबके मुख पर ऐसा भाव आता है जैसे उन्हें पहले से ज्ञात था कि यही होने को था और उन्हें इसका गर्व भी था कि वे ठीक निकले थे।

मैं कार्यस्थ से कहता हूं, "ऐरावत! ग्रामीणों को संवाद पहुंच गया?"

"पहुंच गया महाराज!" वह उत्तर देता है।

मैं फिर कहता हूं, "सभ्यगण! यद्यपि इस बार शतानीक ने अस्वीकार कर दिया है, परंतु मैं निराश नहीं हुआ हूं, क्योंकि विषय उसे ठीक से समझाया नहीं गया है।" मेरी बात को सुनकर कोई भी प्रसन्न नहीं हुआ है।

"तो क्या देव!" रुद्रवर्मा पूछता है, "इस बार फिर समर्पण की बात चलाई जाएगी?"

"समर्पण!" मैं काटता हूं, "समर्पण कौन कर रहा है?"

"देव! लोक यही कहता है।"

"सेनापति! समर्पण का अर्थ है कि हम युद्ध करने के योग्य नहीं रहे। हम कायर हैं, अतः हमपर दया की जाए। परन्तु हम न असमर्थ हैं, न कायर। हम किसीकी दया की भीख नहीं मांगते। हम तो उल्टे उसकी विवेकहीनता पर करुणा करते हैं। हम तो शतानीक को बुद्धि का मार्ग दिखाना चाहते हैं।"

जीमूतवाहन उठकर कहता है, "देव! और सभ्यगण! यह राजनीति का क्षेत्र है, इसमें इतनी ऊंची बातों का स्थान कहां है? मेरी क्षुद्र मति यही कहती है कि अब हमें बहुत ठोस ढंग से काम करना चाहिए। वैशाली के लिच्छवियों को वत्स से पुराना असंतोष है। उधर शाक्यों में भी काफी संदेह है वत्स के प्रति। प्रसेनजित तो वत्स के उत्तर में तैयार है ही। अवंति का महासेन चण्डप्रद्योत भी इस

अवसर को देखकर प्रसन्न होगा। छोटे राज्यों की सत्ता, बड़े राज्यों के बीच में, इसी प्रकार जीवित रहती है। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है कि तुरंत ही मगध को समाचार भेजा जाए। बिंबसार ऐसा मौका कभी नहीं चूकेगा। वत्स ने उसकी सीमा में घुसकर अतिक्रमण किया है। वत्स की सेना गंगामार्ग से भी आई होगी अवश्य। वन में आई है वह, यह सब ही जानते हैं। परंतु हर अवस्था में यह सेना का आना-जाना अतिक्रमण ही है। बिंबसार को सूचना मिलते ही वह वत्स की सेना का लौटने का मार्ग बंद कर सकता है, और हम वत्स की सेना को वैशाली की मदद से नष्ट कर सकते हैं। यदि बिंबसार वत्स पर इधर से आक्रमण करेगा तो अवश्य हमारे गुप्तचरों से सूचना पाकर कोसल और अवंति भी वत्सराज पर आक्रमण कर सकते हैं और इस प्रकार वत्स सदा के लिए मिट सकता है। आज की परिषद् की गुप्त सभा में मैं प्रस्ताव करता हूं कि शीघ्रातिशीघ्र यह कदम उठाया जाए और वत्स का यह शत्रुत्व सदा-सदा के लिए मिटा दिया जाए।"

उसकी बात सुनकर परिषद् में हुंकार सुनाई देता है।

रुद्रवर्मा कहता है, "आर्य जीमूतवाहन पुराने योद्धा हैं, विलक्षण राजनीतिज्ञ हैं, अतः मैं उनका प्रस्ताव स्वीकार करता हूं। परंतु एक बात है कि यदि वत्स पर अवंति और कोसल ने आक्रमण नहीं किया तो क्या होगा। उस अवस्था में बिंबसार अकेला वत्स पर छा जाएगा और वैशाली इस समय उसकी ओर है ही। जब उसका राज्य इतना विशाल हो जाएगा, तब अंगराज्य कैसे सुरक्षित रह सकेगा? कोसल ने जिस प्रकार काशी को हड़प लिया, उसी प्रकार अंगराज्य को मगधराज्य समाप्त कर देगा। उस अवस्था में अंगराज्य क्या करेगा?"

किंतु रुद्रवर्मा की बात सुनने की लोगों में धीरता नहीं है। 'युद्ध! युद्ध!' की पुकार सुनाई देने लगी है।

नंदक उठता है और बोलता है, "अवश्य ही सेनापति की बात ध्यान देने योग्य है। परंतु एक बात और भी है। वत्सराज्य छोटा नहीं। हम वत्स की सेना को इधर समाप्त करें उधर बिंबसार वत्स पर आक्रमण करे। हम कोसल और अवंति को वत्स पर छोड़ें और उस समय कौशल से इन तीनों में फूट डाल दें। राज्य के लिए तीनों बड़ी शक्तियां परस्पर लड़ेंगी उस समय···" नंदक चारों ओर

देखता है।

मैं निस्तब्ध बैठा हूं। नंदक फिर कहता है, "अंग अवंति और व
करे और मगध पर पीछे से हमला करे। मगध पर अंग शासन करे
"यह असंभव है।" रुद्रवर्मा काट देता है।

सदस्यों में बहस होने लगती है।

"मगध बहुत बड़ा है।"

"पर वह खण्डित रहेगा।"

"फिर भी कठिन है। लंबे युद्ध का मार्ग है।"

श्रेष्ठि नंदक चिल्लाता है, "महाराज! आप कैसे शांत बैठे हैं। आपने
नहीं कहा?"

सब मेरी ओर देखते हैं।

मैं कहता हूं, "नंदक! पहले तुम सब कह लो, मैं तो अंत में ही कहूंगा

"देव! कहना हो चुका, अब आप अपना निर्णय दीजिए। यह राजनी
इसमें कौशल की आवश्यकता है।" नंदक मेरी ओर कुछ खीझकर देखता

"मैं तुम्हारा भय देखकर लज्जित हो रहा हूं श्रेष्ठि! मुझे ग्लानि
है।"

सब चौंक उठते हैं।

"देव!" नंदक सांस खींचता है।

जीमूतवाहन दाढ़ी पर हाथ फेरता है और रुद्रवर्मा की आंखों से आंखे
है। तब अमात्य सुषेण अपना उष्णीश सिर पर ठीक से साधकर कहता
इसपर स्पष्टीकरण चाहिए। हमारा भय! हमारा भय क्या है?"

निस्संदेह मेरी बात ने उन लोगों के मन को वेध दिया है। वे इस च
तैयार नहीं हैं।

मैं कहता हूं, "वीरता क्या है? मगध को बुलाना क्या वीरता है
प्रजा का इसमें क्या दोष है? शतानीक की महत्त्वाकांक्षा के लिए उस
क्यों आपत्ति लाई जाए? आपत्ति हमपर आई है। इसका उत्तर क
आपत्ति में डालना है? यह कहां का तर्क है, मैं नहीं समझता। कौन

कि मृत्यु अवश्यंभावी है। उससे डरना क्या उचित है? दूसरे को मारना वीरता नहीं। आत्मरक्षा के लिए दूसरे को मार देना वीरता है। इसीको आज तक वीरता कहा जाता रहा है। परंतु इससे भी बड़ी वीरता है, अपने को दूसरे की रक्षा के लिए मिटा देना।"

वृद्ध जीमूतवाहन ऐसे मुस्कराता है जैसे बड़ी भारी दया ने हृदय पर घर कर लिया हो। भाव है—कैसे करें? इसकी तो बुद्धि ही बिगड़ गई। रुद्रवर्मा सिर हिलाता है जैसे अब कोई गुंजायश नहीं।

नंदक व्यंग्य मे कहता है, "तो फिर देव! घर बनाने की क्या आवश्यकता है? काल तो सब पर आता है। सबको ले जाता है। विवाह की क्या आवश्यकता है? राज्य आपका है कहां? पृथ्वी भला किसकी है? जाने दें सब! सभ्य-गण! आप यहां क्यों बैठे हैं? दया करिए वत्सराज पर। मूर्ख हैं वे। जरा-सी धरती के लिए पाप करते हैं रक्त बहाकर। क्यों लड़ते हैं आप! वत्सराज से पाप करवाने को? चलिए, घर चलिए।"

परिषद् में हास्य गूंज उठता है।

मैं सुनता हूं, वे स्पष्ट कह रहे हैं।

"सेना की क्या जरूरत है?"

"हम घरों में रहें! महाराज ही महल में क्यों रहें?"

"सब समान हैं तो इनकी इतनी इज्जत क्यों की जाए! यह भी कोई न्याय है?"

"अरे आने दो शतानीक को। यह क्या उसका राज्य नहीं है?"

और फिर हास्य। कोई मर्यादा नहीं, कुछ नहीं। सब हंस रहे हैं।

बाहर शस्त्रों की खड़खड़ाहट सुनाई दे रही है।

दण्डधर आकर कहता है, "देव! एक चर उपस्थित है।"

"ले आओ!" कहता है नंदक।

चर आकर प्रणाम करता है।

"क्या समाचार हैं चर?"

"श्रेष्ठि! वत्स की सेना गांवों में और बढ़-बढ़कर आग लगा रही है।"

"लोक-व्यवहार की वात करिए देव !" जीमूतवाहन कहता है, "यह आपने सुना ! आपके देश में प्रजा के घर जलाए जाते हैं ? स्त्रियां चीत्कार कर रही हैं।"

"हां आर्य ! यही मैं सोच रहा हूं। वत्स के सैनिक अपने घर को नहीं जलाते। कौन-सा भेद पड़ जाता है कि वे दूसरे को इस योग्य समझ लेते हैं, उसे जलाने को भी तैयार हो जाते हैं ?"

"सदा से यही होता आया है महाराज !"

"नहीं आर्य ! जो होता आया है वही क्यों होता रहे ! कोई इतना निर्मम होता है कि अकारण ही अपने पड़ोसी के वच्चे का वध कर दे ! वध करनेवाले को पहले किसी तरह का नशा करना पड़ता है। वह नशा है मनुष्य का कोई न कोई तर्कजाल, जो वुद्धि को कुण्ठित कर देता है। जो मनुष्य को यह विश्वास दिला देता है कि वस वही एक मार्ग ठीक है, वाकी सव गलत हैं। यह स्वामिभक्ति जो इतनी महान वस्तु है, उसके मूल में भी एक गड़वड़ है जो स्वामी के कार्यों पर सेवक को सोचने नहीं देती।"

मेरी वात से लोगों को दुःख हुआ है। यह मैं समझ रहा हूं, परंतु क्या मैंने कुछ ऐसा कहा है जो अनुचित है ?

"तो देव ! अव आपकी आज्ञा क्या है ?" कहता है जीमूतवाहन, "आप लोक व्यवस्था को ही इस प्रकार विच्छिन्न करना चाहते हैं। पूर्वजों ने जो मर्यादाएं ने अनेक-अनेक अनुभवों के उपरांत निर्धारित की हैं, क्या आप उन सवको ही ट देना चाहते हैं ?"

जीमूतवाहन उत्तेजित हो उठा है।

मैं खड़ा हो गया हूं। और कहता हूं, "आर्य जीमूतवाहन ! परंपरा में से हमें लेना होगा जो सर्वश्रेष्ठ है। एक समय था जव श्वेतकेतु ने पति-पत्नी की दा वांधी थी। तव क्या उसने परिवर्तन नहीं किया था ? गण के क्षत्रिय रक्त- के दंभ में भाई-वहिन का व्याह करते हैं, हम क्या उसे अच्छा समझते हैं ?"

सभा स्तब्ध हो गई है। मैं फिर कहता हूं, "यह जो ऋषियों के, श्रमणों के, निकों के अलग-अलग मार्ग हैं, वे क्या समय-समय पर वदलते नहीं रहे हैं ?"

"किंतु आर्य ! व्यक्ति का परिवर्तन ..."

इतना उठा हुआ नहीं है।"

रुद्रवर्मा क्रुद्ध-सा वह उठता है, "देव ! वे भी इतने उठे हुए नहीं हैं, जो ऊंचे हैं। राजा क्या लोक में है ? दार्शनिक अहिंसा-अहिंसा चिल्लाते हैं, परंतु राजा के लिए अहिंसा हो, यह तो कोई नहीं कहता। राज-पाट छोड़कर जानेवाले क्या राजा नहीं हुए जम्बू द्वीप में ? परन्तु उनसे लोक का क्या बदला ? देव ! इतिहास-पुराण बताते हैं कि युद्ध शाश्वत हैं, वे ही वीरों का प्रमाण हैं, और इसीलिए वे बारबार होते रहते हैं।"

सदस्यों ने स्वीकृति से सिर हिलाया है। यहां मानो जीवन की विषमता को सब स्वीकार करते हैं।

"तो इस चक्र से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं रुद्रवर्मा ?"

"है देव !"

"क्या है वह ?"

"वन में एकांत तप।"

"मैं अकेला हूं।" मैं पुकारकर कहता हूं, "तब मैं आज अकेला हूं। तप और वन ! यह जीवन से भागना है। लोक में इससे परिवर्तन नहीं होगा। तपस्वी इस लोक को ठीक नहीं कर पाता तो यहां से भाग जाता है, परंतु यह मैं ठीक नहीं समझता।"

"देव !" रुद्रवर्मा कहता है, "कहते हैं मिथिला का विदेहराज अश्वल जनक ऐसा दार्शनिक था जिसने कहा था कि मिथिला जल जाए तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा, क्योंकि यह मेरा कुछ नहीं है। देव ! उसके उत्तराधिकारियों को हटाकर गणराज्य स्थापित हुआ था।"

परिषद् में फिर सन्नाटा छा गया है।

"हां," मैं कहता हूं, "निरंकुश शासन से तंग आकर गण बने थे। आज गण सत्ता पर छा गए हैं, परंतु नये राज्य अमात्यों के साथ उठे, परिषदों के साथ बने। हुआ क्या ? फिर अपने-अपने स्वार्थों के कारण परिषद् समेत राजा निरंकुश बनते जा रहे हैं।"

"देव ! यह दार्शनिकों की सभा नहीं, इस समय युद्ध की बात है।" रुद्रवर्मा

झल्ला उठता है।

"मुझे समय दो।" मैं कहता हूं।

"कैसा समय देव!"

"युद्ध मेरे लिए अवसर है।"

"तो फिर युद्ध?"

"तुम सेना तैयार कर लो!"

"आप?"

"मैं भी लड़ूंगा!"

"तो क्या आप नेतृत्व नहीं करेंगे? आपने सदैव इंद्र की भांति हमारा नेतृत्व किया है।"

"मैं ही तुम्हारा नेता बनूंगा सेनापति।"

"तो स्वामी! स्पष्ट कर दीजिए।"

"मैं तुम सबका स्वामित्व करूंगा, अपना सब कुछ दे देने के कारण। परंतु मेरा स्वामी कोई नहीं बनेगा, क्योंकि कोई भी यहां देने को तैयार नहीं है।"

"हम प्राण तक दे रहे हैं।"

"प्राण! प्राण दे दोगे! हठ नहीं दोगे!"

"हठ कहां है देव! यह तो वीरता है।"

"नहीं रुद्रवर्मा, यह अहंकार है, यह भय है, यह संकुचित व्यक्तित्व है।"

"तो क्या अब शत्रु से भीख मांगनी होगी?"

"मैं तुमसे भीख नहीं मंगवाता रुद्रवर्मा। मैं तुम्हें भीख देने योग्य समर्थ मानता हूं।"

"तो देव! यह बर्बरता चलती रहे? घर जलते रहें, स्त्रियों के साथ बलात्कार होते रहें? यह सब आपके सामने मान्य हैं?"

जीमूतवाहन हठात् चिल्ला उठता है, "मैं परिषद् का आह्वान करता। आर्यपट्ट पर परिषद् के चुने हुए वीर बैठें। संकटकाल की अवधि में महाराज उत्तरदायित्व ले लिया जाए!"

"शतानीक भी मनुष्य है।" मैं हंसकर कहता हूं, "आर्य जीमूतवाहन

आर्यपट्ट पहले ही छोड़ चुका हूं।"

"महाराज!" स्वामिभक्त रुद्रवर्मा कहता है, "आर्य जीमूतवाहन पागल हो गए हैं, वे आपको नहीं छोड़ना चाहते।"

"मैं उसके सोये हुए सत्य को जगाऊंगा। उस शतानीक के पशुत्व को हराऊंगा रुद्रवर्मा! आर्य जीमूतवाहन मेरे पूज्य हैं। वे पट्ट पर मुझे न बिठाएं, परंतु अंग-देश की सेवा करने से तो नहीं रोक सकते!"

आर्य जीमूतवाहन घुटनों के बल मेरे चरणों पर बैठकर रोता हुआ कहता है, "महाराज! मुझे दण्ड दें। मैं उत्तेजना में विवेक खो बैठा।"

"आप राष्ट्र के नायक हैं आर्य!" मैं कहता हू, "आपको मुझसे अगाध स्नेह है, तभी मैं आपका सम्मान करता हू। परिषद् को अधिकार देने और लेने का पूरा अधिकार है।"

"आप महाराज हैं देव?" जीमूतवाहन कहता है। इस समय सबके मुख पर वेदना दिखाई दे रही है।

"मैं उससे भी पहले मनुष्य हू," मैं कहता हूं, "आर्य! एक बार मुझे इस मनुष्यत्व की परीक्षा लेने का साहस भी तो दीजिए!"

वृद्ध कहता है, "महाराज! अंग आपका है। आप कुछ भी करें, सदैव स्वामी रहेंगे। परन्तु एक आज्ञा दे दीजिए।"

"कहें आर्य!"

"हम युद्ध की तैयारी कर लें? अपना राजनीतिक आयोजन पूरा कर लें?"

मैं नीचे उतर आता हूं। और कहता हूं, "आर्य! आत्मरक्षा का जो मार्ग आप जानते हैं, उसे काम में आप अवश्य लाएं, मैं क्या उसमें आपको रोकता हू? परन्तु मुझे भी न रोका जाए। एक प्रार्थना है। मेरी पत्नी और पुत्री यहीं हैं, इन्हें आप अपने परिवार का समझकर अपना स्नेह देंगे!"

परिषद् में कुछ लोग रो उठते हैं। मैं बाहर की ओर चलता हू। धारिणी द्वार पर मिलती है। उत्सुकता और आवेश उसके मुख पर अंकित है।

वह कहती है, "देव! क्या निर्णय हुआ!"

मैं कहता हूं, "देवी! वही हुआ जिसकी मुझे आशा थी।"

वसुमती कहती है, "युद्ध होगा न ?"

मैं कहता हूं : "देवी ! आज समय आया है कि मैं अब युद्ध के लिए जाऊंगा।"

"जाएं स्वामी !" धारिणी गर्व से कहती है, "पुरुष के जीवन का यही तो भाग्य है।"

उसकी आंखों में गर्व भी है और तरलता भी। वह मुझे किस विचित्र दृष्टि से देखती है !

"तुम पुत्री को लेकर प्रासाद में जाओ धारिणी !" मैं कहता हूं, "पुरुष एक बलि का बकरा है। यही हमारा संसार है। अकारण ही शांति होने पर स्त्रियां कलह करती हैं, और जब संग्राम का समय आता है तब पुरुष हत्याकाण्ड में लग जाता है।"

धारिणी मुझे देखती रहती है।

मैं कहता जाता हूं, "लोक में पुरुष और स्त्री की इसी हिंसा-प्रवृत्ति की विवशता को वीरता और गृह-प्रबंध के आडंबर में छिपाया जाता है।"

उसकी आंखों में पानी आ जाता है। मैं कहता हूं, "देवी ! जब मनुष्य समय रहते नहीं चेत जाता, तो अंतिम वेला में उसे इकट्ठे ही पहले का सब काम करना पड़ता है, और इसीलिए उसे युद्ध आसान लगता है, शांति कठिन।"

धारिणी के नेत्रों में आदरभाव झलक उठता है। वह सम्मानपूर्वक धीरे से झुककर मेरे पांव छूती है।

मैं फिर कहता हूं, "लोक में संयम का अर्थ तपस्वियों के कारण पलायन हो गया है। भाग जाओ, छोड़कर, भाग जाओ। मैं भागूंगा नहीं। संयम का अर्थ घुटना और सड़ना नहीं है, स्वस्थ बहाव है। अपने स्वार्थ की चिंता करना पशुत्व का उत्तराधिकार है। उससे ऊपर उठने की आवश्यकता को देखकर मनुष्य उठ नहीं रहा है।"

इस समुदाय में एक वही है जिसने मुझे समझा है। यह उसके नयनों से स्पष्ट है।

मैं कहता हूं, "किंतु उठाना होगा धारिणी ! अवश्य उठाना होगा। यदि वह नहीं उठेगा तो वह सदैव दुःख पाता रहेगा। उसकी मुक्ति का मुझे और

कोई पथ दिखाई नहीं दे रहा है। इसीलिए जाता हूं। तुम्हें कोई वेदना तो नहीं है धारिणी!" इसीलिए जाता हूं।

वह कहती है, "जाए स्वामी! आप देवता हैं। कभी भी आपकी महानता का आदर नहीं कर सकी; उसीके लिए सदैव दु.ख बना रहेगा। जीवन और मृत्यु का मुझे भय नहीं!"

जीमूतवाहन सिर पर हाथ मारकर कहता है, "जहां स्त्री-बुद्धि का इतना प्राधान्य हो; जहां, अपराध क्षमा हो. पुरुष स्त्री से मंत्रणा करके पारिवारिक विषयों को राजनीतिक बातों में मिला दे, वहां और क्या हो सकता है? इन दोनों को मिला देना क्या उचित होगा?"

परिषद् के लोग, जो पास खड़े हैं, सुनकर सिर झुका लेते हैं।

मैं कहता हूं, "आर्य जीमूतवाहन! परिवार और राज्य दो नहीं, एक ही हैं। इनके दो रूप बने हैं न? इसीसे यह उलझन है। उसे मिटाने को तैयार होना पड़ेगा।"

"महारानी!" नंदक व्यंग्य से कहता है, "तैयार हैं न?"

नंदक की बात से पास खड़े हुए लोग धीरे से मुस्करा उठे हैं। वह मुझपर ही चोट है।

धारिणी कहती है, "नंदक! तुम तैयार हो न?"

यह आकस्मिक प्रश्न सुनकर नंदक गड़बड़ा गया है। वसुमती हंसकर कहती है, "महाश्रेष्ठि! मृत्यु तो आती ही है! आ जाये तो डर ही क्या है?"

वसुमती को देखकर मैं कहता हूं, "बेटी! याद रखेगी न अपनी बात? मृत्यु जब सामने आती है तो सचमुच बड़ी विकराल हो जाती है।"

"पिता! मां तो कहती है कि युद्ध में आपको दोनों फल मिल सकते हैं। जब स्त्रियां अपने पति, पुत्र और पिता को मरने के लिए भेज सकती हैं अपने स्वार्थ के लिए, तो स्त्री को डरना नहीं चाहिए न? हम बैठी रहेंगी और आप हमारे लिए खड्ग चलाएंगे!"

"मैं खड्ग नहीं चलाऊंगा बेटी!" मैं कहता हूं, "मैं शत्रु का खड्ग ले लूंगा।"

वह हंसती है।

"सच !" आश्चर्य से पूछती है।

जीमूतवाहन ऐसे देखता है जैसे क्या हो रहा है। परंतु मुझे एक सांत्वना हो रही है कि मुझे कोई तो ठीक समझ रहा है। पूर्ण विश्वास है बिटिया को और संदेह से मान रही है धारिणी ! स्नेह है उसके विश्वास का आधार। वही तो उसे विचलित कर रहा है।

और तब मैं गर्व से सिर उठाता हूं और कहता हूं, "धारिणी ! अब समय आ गया है। जिस दिन विवाह हुआ था, हम पहली बार मिले थे, तब ऐसे ही सबके बीच में मिले थे और आज जा रहा हूं, तब भी वैसे ही सबके सामने मिल रहे हैं न !

धारिणी कहती है, "स्वामी ! उस दिन सब कुछ आपको ही समझकर संग आई थी, अब भी आऊंगी।"

उसकी आंखों के आंसू गालों पर बह आए हैं। वसुमती कहती है, "रोओ नहीं मां !"

जहां अंगराज्य की राजधानी की सीमा थी आज वहां वत्सराज शतानीक सेना-सहित उपस्थित है। वह अधिक समय नष्ट न करके खुले मैदान में सारी शक्ति लगाकर बढ़ आया है और ग्रामप्रांतों के अधिक भाग को उसने युद्ध के बा लूटने के लिए छोड़ दिया है। नगर विक्षुब्ध है। घर-घर युद्ध के लिए जैसे तैय है। सेना तत्पर है। सब कुछ तैयार है। घरों पर स्त्रियां पत्थर रखे बच्चों के स बैठी हैं। कहीं तेल के कढ़ाव उबल रहे हैं, कहीं छप्पर रखे हैं कि ठीक समय आग लगाकर उन्हें नीचे फेंक दिया जाए। शतानीक का हाथी और उसका से दल तत्पर खड़ा है।

मैं उसे देखता हूं। मुझे देखकर सबने अपनी ओर से जयजयकार किया उसका उत्तर आया है वत्स की सेना से—महाराजाधिराज वत्सराज की जय

दोनों ओर से होनेवाले जयजयकार से योद्धा स्फुरित होने लगे हैं। घोष बढ़ चला है।

मैं घोड़े पर चढ़ता हूं और आगे बढ़ता हूं।

रुद्रवर्मा साथ चलता है। उसके साथ सेना की एक टुकड़ी बढ़ती है।

"कहां रुद्रवर्मा !" मैं पूछता हूं।

"देव ! आपके साथ !"

"क्यों ?"

"देव ! क्या शत्रुओं के बीच अकेले जाएंगे ?" वह आश्चर्य से पूछता है।

"मैं अकेला जाऊंगा रुद्रवर्मा। मेरे साथ कोई नहीं चलेगा।"

"क्या कहते हैं देव !"

"आज अंगराज्य का शासन तुम्हारे और परिषद् के हाथ में है। ऐसे समय में मैं स्वतंत्र हो गया हूं। अब अंग का मुझपर और मेरा अंग पर कोई अधिकार नहीं है। यदि मैं अंग की रक्षा करके विजयी होता हूं तो सब कुछ मेरा होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो अंग अपनी सारी शक्ति लगाकर अपनी रक्षा करे। परिषद् ने मेरी इच्छा के विरुद्ध मागध बिंबसार की सहायता बुलाई है। मागध सीमा पर आ गए हैं। अवश्य तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं है।"

सेना पीछे रुक गई है।

मैं सीमा पर खड़ा हो गया हूं।

यह भूमि वही भूमि है जिसपर न जाने कितने व्यक्ति पहले भी अपना अधिकार जता चुके होंगे। और आज भी इसके पीछे मनुष्य लड़ रहा है !

मुझे यह सोचकर हंसी आती है। मैं घोड़े से उतर पड़ता हूं और हाथ उठाकर पुकारता हूं, "शतानीक ! तुम आ गए हो। मैं आया हूं तुम्हारा स्वागत करने। आओ शतानीक ! मैं हूं दधिवाहन !"

शतानीक हाथी पर है। उसपर सोने की भूल पड़ी है और ऊपर सुवर्णमण्डित हौदा है, जिसपर छत्र लगा हुआ है। अपने अस्त्रधारियों के साथ उसपर शतानीक कवच पहने बैठा है इस समय। पीलुक (फीलवान) ने कुछ मुड़कर कहा है। मैं वहीं खड़ा रहता हूं।

मुझे देख हाथी आगे लाया जाता है।

अब उसके अश्वारोही और रथ धीरे-धीरे दायें-बायें सुसज्जित-से आकर मेरे सामने खड़े हो गए हैं। मेरी सेना दूर पीछे दिखाई दे रही है। परन्तु मैं अकेला हूं और मेरा यह व्यवहार देखकर, न केवल मेरी सेना के लोग वरन् मेरे शत्रु भी

चकित हैं।

शतानीक जब मुझसे पंद्रह या बीस हाथ रह जाता है, मैं कहता हूं, "वत्सराज शतानीक! तुम अंगराज्य में आए हो। इसलिए मैं तुम्हारा स्वागत करता हूं। मैं तुम्हारा स्वागत मधुपर्क में भी कर सकता हूं, परंतु तुमने उसे ठुकराकर कहा है कि तुम खड्ग से स्वागत चाहते हो!"

शतानीक कहता है, "स्वयं दधिवाहन को आना पड़ा?"

मैं कहता हूं, "आओ शतानीक! तुम भी तो सोचो कि कितनी दूर से तुम लुक-छिपकर आए हो! मैं जानता हूं कि तुम बहुत भयभीत हो। तुम्हारा मन भीतर ही शंकित हो रहा है कि कहीं पीछे से अवन्तिराजा और कोसलराजा ने वत्स को बांटा न हो। मगधराजा की भी शंका तुमको कम नहीं, फिर शाक्यगण, वज्जिय संघ की सेनाओं का भी तुम्हें कम आतंक नहीं। इतना भय लेकर जो तुम आए हो अंगराज्य को कुचल डालने के लिए, और उसे वीरता कहते हो, उस वीरता को मैं बहुत बड़ा भय मानता हूं। यह भय तुमने अपने स्वार्थ और अहंकार से प्राप्त किया है।"

शतानीक स्वर उठाकर कहता है, "दधिवाहन! मैं भय से नहीं आया! मैं आतंकित होकर नहीं आया!"

"किसलिए आए हो शतानीक!" मैं पूछता हूं।

"युद्ध के लिए!"

"कारण!"

"वत्स की पुरानी पराजय का बदला लेने।"

"वत्स की पराजय!" मैं हंसकर कहता हूं, "वह क्या इस विजय से मि जाएगी शतानीक! इस बार भी जीतोगे यही क्या निश्चय है! और जीतने भी तो यही कहा जाएगा कि वत्स को अंग ने पहले हराया था।"

"दधिवाहन! क्षत्रिय की भांति सामने आओ। मैं यह तर्कजाल नहीं चाहत तुम अपनी कायरता को इस प्रकार नहीं छिपा सकते।"

"मैं कायर हूं शतानीक? तभी तो तुम्हारी इस सेना के बीच में अकेला आ हूं। लेकिन सब इसके विरुद्ध थे। फिर भी मैं जानता था कि शतानीक, जो वि

की लिप्सा में डूब गया है, अभी तक मनुष्य ही है। इसीलिए मैं अकेला आ गया, क्योंकि क्षत्रिय ही वह सूरमा होता है जो मृत्यु से नहीं डरता, क्योंकि वह दूसरों को बचाता है। क्षत्र का अर्थ तो रक्षा करना है और इसीलिए क्षत्रिय को वर्णों में इतना श्रेष्ठ माना गया है! कायरता तो यह है कि तुम इतने दिन तक छिप-छिपकर निरीह और निरपराध ग्रामीणों को लूटते रहे। उसमें कौन-सी वीरता थी शतानीक! कहते हैं प्राचीनकाल में धर्मयुद्ध होते थे, तब सेनाएं लड़ती थीं, प्रजा को नहीं सताया जाता था। यह सत्य है या केवल कल्पना, यह मैं नहीं जानता; परंतु यदि यह कल्पना ही है तब भी शोभनीय है। बता सकते हो उसमें क्या वीरता है? इस लूट का कारण क्या है?"

"कारण यही है कि मैं सबको एक करना चाहता हूं; वत्स और अंग को एक! एक करना चाहता हूं।"

"वत्स और अंग क्यों शतानीक! बिलकुल पड़ोस के अवन्ति, मगध और कोसल को पहले एक कर लेते। और अगर अंग पर ही इतना प्रेम था, तो क्या तुमने कभी अंग की राजसत्ता से कुछ पहले कहा कि तुम्हारा उद्देश्य क्या था? एकता तो बहुत श्रेष्ठ वस्तु है शतानीक! परन्तु उस एकता का अर्थ क्या है?"

"दो राज्यों का एक होना।"

"तो शतानीक! एक घर में जब कई भाई रहते हैं तब क्या वे एक-दूसरे को अपमानित करके अपने अधिकारों को परस्पर बांटते हैं? क्या वे एक-दूसरे के दास बनकर रहते हैं?"

"किन्तु बड़े का तो छोटे पर अधिकार चलता ही है।"

"ठीक है। किन्तु क्या छोटा अपने ज्येष्ठ भ्राता के पराक्रम के कारण उससे दबकर रहता है?"

"नहीं, वह परम्परा के कारण होता है।"

"तो स्नेह का तुम्हारे सामने कोई मूल्य नहीं? तुमने क्या अंगराज्य को अपना अभिमत पहुंचाया था?"

"स्वार्थ के कारण क्या तुम स्वीकार करते दधिवाहन! व्यर्थ वितंडा करके अपनी भीरुता छिपाने का प्रयत्न मत करो। यह मत समझो कि तुम्हारे तर्कजाल से

मेरी सेना में फूट पड़ जाएगी। प्राचीन आर्यपरम्परा के कारण मैंने अभी तक तुम्हें बोलने की आज्ञा दे दी है, यह न समझो कि मेरी वीरवाहिनी अपना इरादा बदल देगी। वह अंगराज्य को अहंकार का बदला चुकाने का न्यायकार्य करने आई है।"

मैं हंसता हूं। कहता हूं, "उलटी बात कहते हो शतानीक ! यह न समझो कि न्याय अब बल के द्वारा तुम्हारा हो जायगा। न्याय अहिंसा की ओर रहेगा।"

"अहिंसा साधुओं का धर्म है।"

"साधु धर्म को ही लोक क्यों न अपना लें।"

शतानीक कहता है, "तो फिर निर्णय कैसे हो दधिवाहन !"

"निर्णय तो हो चुका शतानीक !"

शतानीक समझता नहीं। वह कहता है, "हो चुका ?" कब हो चुका ? वह हंसता है।

"हां," मैं कहता हूं, "हो चुका ! तुम हार गये हो। हारा हुआ व्यक्ति ही पशु-बल का प्रयोग करता है। तुम अंग को मिलाकर साम्राज्य बनाओ। निर्णय किससे होगा ? साम्राज्य से? उसके बाद तुम्हारी तृष्णा कहां जाएगी? औरों से टकराएगी। छोटे-छोटे राज्य मिटाकर तुम विशाल साम्राज्य बनाना चाहते हो ! यही है न तुम्हारे धर्म का छद्म ! परन्तु किस लिए ? अपने अहं की तुष्टि करने को ! आज तुम्हारी सेना लूट के लिए खड़ी है। और खड्ग से सब कुछ जीतना चाहती है। परन्तु कल जब अंग की प्रजा तुम्हारी प्रजा हो जाएगी, तब तुम्हें शांतिकालीन प्रबन्ध करना होगा। इतना विशाल साम्राज्य तुम संभाल सकोगे ? लोक में बलप्रयोग से न आज तक कभी शांति स्थापित हुई है, न कभी होगी। याद रखो कि जब तक खड्ग का प्रयोग होता रहेगा, तब तक घृणा इस पृथ्वी पर जीवित बनी रहेगी। जिसमें निरीह प्रजा की हत्या होगी, उसमें कभी विश्वास अपनी जड़ नहीं जमा सकेगा।"

"जीवन का यह दार्शनिक रूप लोक के व्यवहार के अनुकूल नहीं है दधिवाहन ! जानते हो ? राष्ट्रों में विभिन्न आचार हैं। परस्पर घृणा है। किंतु क्यों ? क्योंकि हम सब एक-दूसरे से अलग-अलग पड़े हैं। जानते हो न कि पारसीक देश का राजा कुरु अभी गांधार और काम्बोज में लूटकर लौट गया है।"

"और नष्ट भी हो चुका है।" मैं कहता हूं,"सुदूर चंपा में बैठकर भी मैं उसके विषय में सुन चुका हूं। परन्तु एकता के लिए क्या तुम अंग को अपना स्वामित्व नहीं दे सकते वत्सराज ! धोखा दूसरों को देना उतना बुरा नहीं, जितना अपने-आपको छलना है शतानीक !"

"यह कायरों की बात है दधिवाहन ! राजा प्रतीक है,व्यक्ति नहीं। यदि वत्स समर्पण करे तो किसके सामने ! वह बीच का देश है। अवंति, कोसल और मगध के बीच में कौन है ? वत्स ! अंग तो एक छोटा-सा राज्य है। यदि यह राज्य एक न होंगे तो इन गणों का अनाचार कैसे मिटाया जा सकेगा, जहां दासों के रूप में इन दुरभिमानी शासकों का दंभ पल रहा है। बिंबसार अपनी अंबपाली के कारण वज्जियों से मिल गया है दधिवाहन ! उसने लोक की मर्यादा को अपने सामने नहीं रखा। लोकनिंदित कर्मों में ग्रस्त है। क्यों ? क्योंकि आर्यों का प्राचीन मार्ग उसने छोड़ दिया है। इसीलिए आज धर्म की स्थापना की ही आवश्यकता है !"

"और उसीके लिए तो तुम जंगलों के रास्ते से छिपकर आए हो और तुमने ग्रामीणों को लूटा है। तुम समझते हो कि तुम्हारा यह छल लोग समझ नहीं रहे हैं ! याद रखो ! यह एक राष्ट्र की ओर जाना नहीं है। यह है अश्वमेध की बर्बर परम्परा। यह लोभ है शतानीक ! हिंसा ही इसका आधार है। मनु से लेकर अब तक सहस्रों राजा हो चुके हैं, मर चुके हैं। युद्ध और हिंसा से यह पृथ्वी आक्रांत रही है। किंतु मनुष्य को मिल क्या सका है अभी तक ? क्षत्रिय-धर्म क्रूर कार्य है। वीरस्वर्ग प्राप्त करने की अहम्मन्यता से अनेक हत्याएँ हुई हैं। तुम वीर हो। और भी ऊँचे उठो। अपने लिए तो सभी रहते हैं। एक बार अपनी सीमा से निकलकर देखो कि दूसरों के लिए जीना कितना कठिन है। और तभी तुम समझोगे कि इस मार्ग में अहंकार ही हिंसा को जन्म देता है।"

शतानीक गरज उठता है : "हिंसा ! हिंसा की बात करते हो दधिवाहन ! लोक का जीवन परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर है। प्राणी प्राणी पर निर्भर करता है।"

"ठीक है, परन्तु मनुष्यत्व इसीमें है कि उस निर्भरता को अधिक से अधिक उदात्त बनाने चले जाएं।"

"किंतु उसका मानदंड क्या है दधिवाहन ! अपने-अपने में केन्द्रित होकर तो उसको अपने-अपने स्वार्थ नियंत्रित करेंगे ?"

"नहीं शतानीक ! वह पुराना ढंग था !"

"और नया ढंग क्या कायरता ही नहीं है ?"

"हां," मैं कहता हूं, "देखो ! जिसे तुम वीरता कहते हो वह दूसरे के विन पर खड़ी होती है। वीरता वास्तव में वह है जिससे दूसरे का निर्माण हो !"

"काल सब का क्षय कर रहा है दधिवाहन ! तुम क्या काल का चक्र भी उ सकते हो ?"

"मनुष्य काल को विजय करता है अपने उदात्त औदार्य से। काल इस उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता, जो धर्म के पथ पर चलते हैं। इसीलिए लो में आज तक मनीषियों ने जीवन में काम, अर्थ और मोक्ष का महत्त्व स्वीकार क भी, सबसे ऊँचा स्थान धर्म को दिया है।"

"और धर्म क्या है अंगराज ! बता सकते हो ? क्या यह बहुकृत्य जी अपने अनेक धर्म नहीं रखता ?"

• "रखता है वत्सराज ! धर्म रूप बदलता है। और प्रत्येक व्यक्ति एक धर्म पालन करता है। परन्तु मूलतः यह सब कच्चापन जाकर पकता कहां है ? लोक धर्म है वास्तव में लोकधर्म।"

शतानीक अट्टहास कर उठता है और कहता है, "लोक का धर्म क्या दधिवाहन ?"

"वही है वत्सराज ! जो अनेक व्यक्तियों के धर्म को इस प्रकार संगठित कर है कि उससे लोक के लिए एक कल्याणकारी नियम बनता है। उस अवस्था किसीका भी धर्म दूसरे पर आक्रमण नहीं करता और अधिकार की जगह लेत कर्तव्य ! युद्ध की जगह लेती है शांति !"

सेना भी हंसती है।

गोधूम कहता है, "देव ! आप युद्ध से इतना डरते हैं ? वीर तो शक्ति परीक्षा करते ही रहते हैं।"

"करते हैं गोधूम ! तभी तो आया हूं।"

"यह क्या वीरता है ?"

"तो क्या वीरता हत्या में ही है ?"

"हत्या ! हत्या में दूसरा नि:शस्त्र रहता है, दूसरा निर्बल रहता है. वह समर्पण करता है, फिर भी आततायी उसपर दया नहीं करता ।"

मेरी सेना दूर खड़ी है।

मैं देखता हूं। घोड़े पर एक व्यक्ति तेजी से दौड़ा आता है और सेनाध्यक्ष रुद्रवर्मा से मिलता है। पता नहीं वे क्या बातें करते हैं कि एक टुकड़ी अलग होकर उस आने वाले के साथ पीछे की ओर चली जाती है और एक हुंकार सुनाई देती है।

गोयूम पुकारता है, "अंग की सेना कुछ चाल खेल रही है।"

सैनिक बातें करने लगते हैं।

"वह देखो ! वह एक और अश्वारोही आया !"

"लो देखो ! वह भी चला गया।"

"इस मुट्ठीभर सेना को हम यों ही कुचल देंगे दधिवाहन !" शतानीक दर्प से कहता है, "अंग की सेना अब कितनी भी चाल क्यों न कर ले, किंतु वह बच नहीं सकती। तुम अकेले आए हो, इसलिए प्राचीन परंपरा के अनुसार मैंने तुम्हें राजा का सा सम्मान दिया है। परंतु अब तुम लौट जाओ। तुम्हारा दूतत्व समाप्त हो चुका। अब युद्ध के लिए तैयार होकर आओ।"

"किंतु उसका अंत क्या होगा शतानीक।"

"जीत या हार !"

"किसकी जीत ? किसकी हार ?"

"किसी एक की भी। इसकी मुझे चिंता नहीं।"

"परंतु मुझे खेद है कि यह तो दोनों की ही हार हो जाएगी।"

विशाल साम्राज्य का स्वप्न देखने वाला शतानीक सहसा ही चौंक उठता है। पूछता है, "दोनों की हार ?"

"हां वत्सराज ! जब हम दोनों ओर से मनुष्यत्व छोड़कर पशुओं की भांति लड़ेंगे तब हमारी हार ही तो होगी। वत्स की सेना समझेगी कि अंग से इसे पुराने

अपमान का बदला लेना है जबकि यह बहाना उसने लिया है अंग को लूटने के लिए। और फिर अंग की सेना समझेगी कि उसे अपनी रक्षा करनी है और वह यह बहाना धारण करती है कि उसको अपने धर्म, धन और घरों को बचाना है। जब दोनों टकराएंगे तो उस समय मनुष्यत्व शेष नहीं रहेगा। वत्स जीतेगा तो उसे अहंकार शांति नहीं लेने देगा। और यदि अंग जीतेगा तो वह वत्स से बदला लेगा। उस समय अंग अत्याचारी बन जाएगा और वत्स मनुष्यत्व की बात करेगा। इसीलिए मैं तुम्हें सावधान करता हूं कि जिसे तुम इतना महान और महत्त्वपूर्ण कार्य समझ रहे हो, वह वस्तुतः एक बर्बरतामात्र है। उससे किसीको भी लाभ नहीं हो सकता। स्वयं तुम्हें ही युद्ध से शांति नहीं मिल सकती। क्योंकि विजय के बाद तुम्हें शांति की आवश्यकता पड़ेगी और तुम उसे दमन से लागू करोगे, जो विद्रोह को जन्म देगी और विद्रोह से फिर हत्या का नया दौर शुरू हो जाएगा। तुम मेरी बात को कायरता समझते हो और न्याय यह देते हो कि सदा से यही होता चला आ रहा है, परंतु क्या यही तुम्हारे विवेक का उत्तर है? शतानीक मुझे उत्तर दो!

"मेरा उत्तर मेरा खड्ग है दधिवाहन! बहुत हो चुका। एक बार खड्ग मुझसे परास्त होकर या तो स्वर्ग जाओ या स्वर्ग मुझे भेज दो।"

"स्वर्ग भी प्राप्ति की कामना का स्थल है शतनीक! उससे भी ऊपर उठ मुक्ति की कामना करो!"

"मुक्ति!" शतानीक हंसता है, "आज मैं तुम्हें मुक्त ही करने आया हूं द वाहन!"

"तो उतरो शतानीक! हम-तुम ही इस द्वन्द्व का फैसला कर लें। तुम मैं। यह सारी वैतनिक सेनाएं हमारी-तुम्हारी रणलिप्साओं का आहार हैं। चराया गया है अपनी तृष्णा के लिए कटवा देने को। सेना धर्म की स्थाप लिए मनु द्वारा बनाई गई थी, क्षत्रियों का पराक्रम दिखाने के लिए। तुम वे तो आओ। मैं तुमसे युद्ध करूंगा। जो जीतेगा उसीका शासन पराजित के पर होगा।"

वत्स का सेनाध्यक्ष गोधूम घोड़ा बढ़ाता है और शतानीक के हाथी जाकर खड़ा होकर शायद कुछ कहता है। वह इतनी धीमी आवाज में व

मैं नहीं सुन पाता ।

शतानीक सिर हिलाता है जैसे नहीं ।

गोघूम फिर कुछ कहता है जिसे शतानीक ने सुनकर मानो स्वीकार कर लिया तब गोघूम घोड़ा कुछ आगे बढ़ाता है और चिल्लाता है, "यह झूठ है देव ! राज दधिवाहन यदि शांति का समाचार लेकर आए हैं तो इनके हाथ में खड्ग ं है ?"

"खड्ग !" मैं कहता हूं, "गोघूम ! यह खड्ग किसलिए है, वह तुम्हारी क में अभी आ जाएगा । मैं तुम्हें सिखाऊंगा कि वीरता क्या है ?"

गोघूम कहता है, "शांति की बात करने हैं आप महाराज ! खड्ग लेकर।"

मैं कहता हूं, "वचन दो शतानीक ! आज मुझसे द्वन्द्वयुद्ध करोगे ! मेरा-रा युद्ध होगा । मैं रहूं या तुम । लोक को इससे कोई हानि-लाभ नहीं होगा । ी को ही शासन करना है । अंग तुम ले सकते हो, तुम इसपर अपना अधिकार सकते हो । लोक में इससे कोई परिवर्तन नहीं होगा । राजा होना भाग्य की है, कोई महान कार्य नहीं है । अच्छा राजा होना कठिन है । तुम अङ्ग चाहते ो से लो शतानीक ! परन्तु प्रजा के लोहू की एक भी बूंद मत गिराओ ! वचन कि अंग की प्रजा लुटेगी नहीं । अंग की नारी का गौरव अखंड रहेगा । संभालो ा को, न्याय से शासन करो । परन्तु इसका विश्वास दो, क्योंकि द्वन्द्वयुद्ध करने म कायरता दिखा रहे हो ।"

वत्स की सेना गरजती है, "तर्क छोड़िए महाराज ! यह अंग का छल है । वह ए पीछे अंग की सेना तैयार खड़ी है ।"

"यह भी शांति का स्वर है ?" शतानीक पूछता है ।

मैं मुड़कर देखता हूं । अब सेना ने शस्त्र उठा लिये हैं ।

"शतानीक !" मैं चिल्लाता हूं, "अब भी उत्तर मानो !"

पीछे मैं सुनता हूं, तूर्यनिनाद हो रहा है ।

"यह क्या है ?" शतानीक हंसकर कहता है, "दधिवाहन ! मैं तुम्हारे नये र के छल को मानता हूं ।"

"यह छल नहीं है ।" मैं कहता हूं, "जैसे तुम नहीं समझते वे भी नहीं समझते ।"

"नहीं, नहीं,"···पीछे से आवाज़ें आ रही है।

स्पष्ट सुनाई दे रहा है :

" दधिवाहन का नाश हो"

" दधिवाहन कायर है···"

शतानीक गोधूम की ओर देखता है और कहता है, "सेनापति !"

"आज्ञा देव !" गोधूम उत्तर देता है।

"विद्रोह हो गया है।"

मैं हाथ उठाकर कहता हूं, "शतानीक ! बोलो ! वह विद्रोह व्यर्थ है। उस
चिंता मत करो।"

"विद्रोह !" शतानीक कहता है,"तुम्हारी पीठ पर हो रहा है। तुम जो चाह
हो उसका अनुमोदन कौन कर रहा है ?"

"तुम्हारी प्रजा तुम्हारी नहीं है," गोधूम हंसकर कहता है, "महाराज! पह
अपने को संभालो ! तुम्हारी बात कौन मानेगा ?"

"शतानीक !" मैं कहता हूं, "समर्थ शतानीक मानेंगे। यह कार्य वीरों
नहीं। वे जो चिल्ला रहे हैं, डर गये हैं। वे मनुष्य को शस्त्रों से ऊपर नहीं देख पा
रहे हैं।"

"मैं वचन नहीं दे सकता।" शतानीक कहता है।

उसकी सेना में अब तूर्य बजने लगा है।

"हट जाओ !" शतानीक पुकारता है, "यदि तुम अंग के राजा नहीं हो त
मुझे तुमसे कुछ नहीं कहना है दधिवाहन !"

पीछे का कोलाहल बढ़ गया है। लगता है शस्त्र बज रहे है। मैं मुड़कर देख
हूं। जो सेना की टुकड़ी मैं छोड़कर आया था वहीं खड़ी है।

मैं कहता हूं, "फिर सोचकर देखो शतानीक ! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा
जिसे तुम विक्रम कहते हो वह तो कायरता है। शस्त्र धारण करके किसीको मा
क्या कोई वीरता है ? वीरता है शस्त्र को फेंककर मनुष्य को मनुष्य के रूप में
चानना। उसीसे मनुष्य की दिग्विजय प्रारंभ होगी ! देखो यही है न सीमा ?
है मेरे और तुम्हारे राज्य की सीमा ? इस सीमा ने मनुष्यों को बांट दिया है,

मनुष्य फिर भी एक हैं। समस्त प्राणी एक हैं। यह कहना भूल है कि उनमें अलग-अलग प्रकार की आत्माएं हैं। मनुष्य को दो सत्य नहीं, एक ही सत्य को स्वीकार करना होगा। यह सीमा क्यों है? मद के कारण। इस सीमा से पृथ्वी नहीं बंट जाती, लोक नहीं बंट जाता। बंटता है शासक का अहंकार। इस सीमा पर फैलाने के लिए क्षत्रिय अपनी हिंसा को न्याय कहता है। शतानीक! इस सीमा को एक कर दो। समझ लो कि अंग और वत्स आज से एक हो गए। हम-तुम शत्रु नहीं, एक ही कुटुम्ब के निवासी हैं। यह वसुधा एक विशाल कुटुम्ब है। इसमें जो अनाथ हैं, उन्हें हम सुन्दर बनाएंगे। मेरे और तेरे के भेद के कारण जो घृणा हमारे-तुम्हारे बीच में आ गई है, इसको सदा के लिए मिटा देंगे। प्रलय तक लोग याद करेंगे कि एक दिन कुरुकुलगौरव शतानीक ने दिग्विजय की लोलुप तृष्णा को छोड़कर लोक के कल्याण के लिए धर्म का पथ अपनाया था। राजन्! बहुत कठिन है आततायी के सामने निर्भीक होकर खड़ा रहना, पर उससे भी कठिन है आततायी का अपने मार्ग के अनौचित्य को समझकर उसका निराकरण करना। यावत् चंद्र दिवाकर तुम्हें सत्यवादी हरिश्चन्द्र की भांति याद रखा जाएगा।"

"तुम डर रहे हो!" शतानीक कहता है।

मैं हंसकर कहता हूं, "शतानीक, मैं डरता नहीं हूं! देखो! मनुष्य किससे डरता है? अपने प्राणों के लिए, वह सबसे डरता है। जिस दिन मनुष्य समझ लेगा कि मृत्यु मनुष्य की पराजय नहीं, पराजय है उसका मृत्यु से डरना, उसी दिन वह दूसरों को अपना खड्ग उठाकर मारना बंद कर देगा। तुम मुझे [illegible] हो! क्या तुम समझते हो कि यह खड्ग मैं तुमपर चलाने [illegible] लिये तो मैं सेना लेकर औरों की तरह तुमसे लड़ता। मैं [illegible] प्यास मिटाने, इस सीमा के लोभ को मिटाने, जिसने तुम्हें [illegible] है"

यह कहकर मैं खड्ग अपने पेट में घुमेड़ लेता हूं। रक्त बह [illegible] लोहू से धरती को लीपकर कहता हूं, "यह देखो [illegible] मनुष्य का अन्त क्या है। कुछ ही देर में मैं राजा नहीं रहूंगा [illegible] आ जाएंगे... इतना ही है मनुष्य का जीवन... इसीके लिए है [illegible]"

गोधूम विस्मित-सा थोड़ा पीछे हटा ले जाता है [illegible]

शतानीक विक्षुब्ध-सा देख रहा है…

फिर वह जैसे व्याकुल हो उठा है। भर्राये स्वर से पुकारता है, "दधिवाहन!"

मैं धरती पर पड़ा-पड़ा मुस्कराता हूं। कोलाहल सुनाई पड़ता है। मैं मुड़ता हूं। मैं देखता हूं कि मेरे पीछे की तरफ से बाणों की बौछार आई है, शतानीक चिल्लाता है, "अंगराज की सेना ने आक्रमण प्रारंभ कर दिया!"

गोधूम चिल्लाता है, "धनुर्धर! सावधान!"

मैं पड़ा-पड़ा देख रहा हूं। धनुष धरती पर टिके हैं और योद्धा पंक्ति बनाकर घुटने टेककर बैठ गये हैं। उन्होंने धनुष चढ़ा लिये हैं। फिर मैं देखता हूं कि सेना हिल उठी है।

मैं कांपते कण्ठ से शक्ति एकत्र करके कहता हूं, "शतानीक! वे डर रहे हैं।"

शतानीक जैसे सुनता है पर सुन नहीं पा रहा है। एक बार मुझे देखकर उसकी आंखें कुछ चमत्कृत-सी हो गई हैं। मुझे नहीं पता वह मेरी सेना की ओर क्या देख रहा है जहां अब काफी कोलाहल हो रहा है।

और तब शतानीक का हाथी मेरे पास आ जाता है।

"एक दिन यह सीमा नहीं रहेगी शतानीक!" मैं क्षीण स्वर से कहता हूं, "यह सीमा नहीं रहेगी।"

पर कोलाहल बहुत बढ़ गया है। शतानीक का ध्यान उधर ही है। धनुर्धर तैयार बैठे हैं। कभी-कभी कोई सैनिक ललकारता है और फिर वे सब गिद्धों की तरह ललकते हुए देखने लगते हैं।

"एक दिन यह न्याय ही, जिसके द्वारा हत्या आज धर्म बन गई है, अन्याय कहलाएगा…" मेरा स्वर बहुत मंद पड़ गया है। मैंने धरती पर सिर रख दिया है। बहुत क्षीण हो गया है मेरा बल।"

तभी कोलाहल सुनाई देता है, "महाधिराज बिंबसार की जय!"

मैं चौंककर हाथों के बल, एक घुटना मोड़कर बैठ जाता हूं। यह मैं क्या सुन रहा हूं!

शतानीक हाथी के हौदे में खड़ा हो गया है।

गोधूम चिल्लाकर कहता है, "बिंबसार! मगध! मागध सेना! अंगराज

ने धोखा दिया ! तभी दधिवाहन अकेला आ गया। महाराज ! अंग अब मगध का हो गया।"

शतानीक मुझे देखता है और चिल्लाता है, "धोखा !" उसका स्वर उठ रहा है, "यह धोखा है !"

मैं कहता हूं, "वत्सराज ! बिंबसार इस धोखे का बदला चुकाएगा। वह जिस पर विश्वास करेगा वही उसे धोखा देगा। यदि धर्म सत्य है तो जिस राज्य के लिए उसने ऐसा पाप किया है, वह राज्य ही उसके लिए अभिशाप बन जाएगा…"

मैं और कहना चाहता हूं, परंतु अब मैं हांफ रहा हूं……वह नहीं…पा रहा हूं…

गोधूम पुकारता है, "सेनानायको ! सेना को वनप्रांत में हटा लो। मगध भूमि को अपने पीछे रखकर हम उसकी सेना से नहीं जीत सकते।"

शतानीक चिल्लाता है, "मूर्ख ! देख तेरी चंपा को मगध निगल गया !"

रोष से उसका गला रुंध रहा है। वह ग्लानि से जैसे उस समय विह्वल हो रहा है।

मैं कहता हूं, "शतानीक !"

वह सुन नहीं सका है। अब वह हाथी पर से उतर रहा है और मेरे पास आ गया है।

मैं सुनता हूं। वह कहता है, "दधिवाहन ! मगध अंग को निगल गया !"

मैं देखता हूं और धीरे से कहता हूं, "शतानीक ! तुम वीर हो ! तुमने मनुष्यत्व की पुकार सुनी। तुम अपने लोभ से निरन्तर लड़ते रहे। मेरा अभिवादन स्वीकार करो।"

शतानीक की आंखों में पानी आ गया है। उसने मुझे सहारा दिया है।

मेरा गला सूख रहा है। शतानीक पुकारता है, "पानी … पानी लाओ…"

एक सैनिक पानी देता है। वह मुझे पिलाता है। मैं गट-गट पीता हूं। परन्तु पानी पेट में से रक्त के साथ बाहर निकल आया है। मैं तड़पने लगा हूं।

शतानीक कहता है, "तू जीत गया दधिवाहन ! तू महान है। तूने मेरी आंखें खोल दीं। मैं हूं वह लोभी जिसके कारण अंगदेश मगध के हाथ चला गया।

पर यह कैसे हुआ ?"

मैं उसे देख रहा हूं। वह धुंधला होता जा रहा है। मैं हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ लेता हूं। शतानीक फिर कहता है, "दधिवाहन ! "तू मेरा भाई है…"

मैं मुस्कराता हूं और मेरे कानों में उसके शब्द आते हैं…ऐसा लगा है जैसे वह कहते-कहते दूर होता चला जा रहा है, "दधिवाहन…सीमा मिट गई…इस लोहू में युगांत तक धर्म बोलता रहेगा………

और शब्द दूर होते चले जा रहे हैं…दूर होते चले जा रहे हैं……

मुझे कुछ भी नहीं दिखता……मैं कहां हूं……मैं कहां हूं……

४

स्वस्तिश्री योग्य लिखा श्रेष्ठि धनवाह, [illegible]
निवासी श्रेष्ठि मणिपूरकदास को प्रणाम निवेदित हो। [illegible]
जब मैं तुम्हारे पास से लौटा तब मेरी मनोशंका [illegible]
था। उस समय मेरे मन में एक श्रजीव तरह [illegible]
बन्दरगाह पर खड़े होकर हमने कितनी बातें की [illegible]
संसार वहीं इकट्ठा हो गया था। [illegible]
मिस्र जैसे म्लेच्छ-देश तक के बोहित ([illegible]) [illegible]
लोग अपने अवकाश में किस तरह [illegible]
देवताओं के बारे में बातें किया करते थे [illegible]
होते थे। मैंने शूर्पारक और [illegible]
कि ताम्रलिप्ति की होड़ कोई नहीं कर सकता, [illegible]
संसार का गौरव है। वे बातें [illegible]
हूं उतनी ही मन में कचोट [illegible]
तुम्हारे पास पहुंचेगा तब तक [illegible]
मुझे पाण्डय देश का [illegible]
से होता हुआ [illegible]
था। उसने मैंने [illegible]
जरा [illegible]
मेरे यहां [illegible]
मैंने एक [illegible]
इस पर [illegible]
वस्तुतः यह [illegible]

कारण ही देवता हैं। ऋषियों ने इसीलिए कहा है कि यह सब देवता अन्तिम सत्य नहीं है। देवताओं से ऊपर भी एक शक्ति है और वह ब्रह्म है। क्या है वह ब्रह्म, यह कोई नहीं जानता । तभी उसे ऋषियों ने 'नेति-नेति' कहा है। वे तो यह भी कह चुके हैं कि किसी भी देवता को उसी रूप में देखा जा सकता है। यहां मैं तुम्हें इसी संबंध की एक घटना बताता हूं। पुराणों की कथा सुनाने वाले एक व्यास मिले थे मुझे सौवीर देश में। तुम जानते हो कि व्यास इधर उन्हें कहते हैं जो इतिहास की कथाएं सुनाते हैं। चौराहों पर अक्सर वे रात को बैठते हैं और स्त्री-पुरुष उनके उपदेश सुना करते हैं। हम वैष्णवों में तो धर्मप्रचार का यही प्रमुख मार्ग है। यह लोग पुरानी बातों को नये ढंग से ऐसे सामने रखते हैं कि सुनकर मन तृप्त हो जाता है । इधर तो यहां तक मनुष्य धर्म को नई व्याख्या से प्रभावित हुए हैं कि विष्णु के नये मंदिरों में शायद शीघ्र ही चाण्डाल और ब्राह्मण साथ-साथ प्रवेश करें[1]। तो इन व्यास महोदय ने बताया कि वे एक बार तक्षशिला विद्यालय से लौटते हुए जब सागल (स्यालकोट) पहुंचे, उन्होंने सुना कि पास ही शैवों और वैष्णवों में झगड़ा हो रहा था। व्यास महोदय तुरंत वहीं पहुंचे और उन्होंने कहा कि झगड़ा वस्तुतः व्यर्थ था। मूलतः शिव और विष्णु एक ही थे। एक ही परमात्मा था, परंतु वह इस प्रकार अपने दो रूपों में प्रगट हुआ था। झगड़ा शांत हो गया और अब यही प्रचार अधिक बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि मैं उस व्यापारी की मछली खाने की बात को बहुत बुरा नहीं समझता था। एक दिन उसने मुझसे इच्छा प्रगट की कि मैं उसे हस्तिनापुर के खंडहर दिखाऊं । तुम तो जानते हो कि जिस कुरुकुल के महाराज परंतप शतानीक हमारे राजा हैं, वह कुरुकुल पहले हस्तिनापुर में शासन करता था। समय की बात कि उसे एक बार बाढ़ ने डुबा दिया और तब यह कोसांबी बसा दी गई। मैंने उसे ले जाकर सब दिखाया। वहां पास के गांवों में महर्षि द्वैपायन व्यास का 'जय' काव्य सुनाते हैं लोग गा-गाकर। वहां वह व्यापारी मुझसे विदा लेकर शूरसेन देश की ओर चला गया और मैं फिर कोसांबी की ओर नाव पर चल पड़ा। आते ही ज्ञात हुआ कि महाराज परंतप शतानीक चुपचाप नावों को लेकर वत्स देश से चले गये थे। अंगदेश पर वे आक्रमण

---

१. कौटिल्य के समय तक ऐसा हो गया था। इस युग से करीब २५० या ३०० वर्ष बाद।

कर रहे थे। सेना को जंगलों के रास्ते भेज दिया गया था। यह तो तुम जानते ही हो कि महाराज परंतप शतानीक से मेरे संबंध कितने अच्छे हैं। यह सत्य है कि इस मित्रता का प्रारंभ मेरे धन के प्रभाव से प्रारंभ हुआ था, परंतु बाद में मनुष्य ने मनुष्य को पास से देखा। महाराज परंतप शतानीक की वैदिक वर्णव्यवस्था में पूरी आस्था है, वैसे वे वैष्णवों से भी प्रभावित हैं, शैव और जिन श्रमणों से भी उनका साथ है। आज जो लोक में उच्छृंखलता है, वे उसके विरुद्ध हैं। मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि महाराज ने चुपचाप अंग पर आक्रमण क्यों किया? अतः मैं अमात्यों में से अपने मित्र सुकुमार को खोजने लगा। वह चला गया था। उसका पुत्र यौगधरायण मुझे मिला, जिससे मेरी जान-पहचान है। उससे ज्ञात हुआ। अवंति, कोसल और मगध से घिरा वत्स खतरे में था। अतः महाराज ने सोचा कि किसी प्रकार अंग को जीता जाए तो उधर मगध और वैशाली को अटकाया जाए और बल बढ़ा लिया जाए। यौगधरायण को इसमें संदेह था कि ऐसा हो भी सकेगा या नहीं। मैं लौटकर आया तो चल पड़ा और काशी पर ही मैंने तेज नावों के सहारे उन्हें पकड़ लिया। मुझे देख वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "श्रेष्ठ धनवाह! तुम आ गये, यह बहुत अच्छा हुआ। मैं बड़ी चिंता में था।"

मैंने कहा, "क्यों देव!"

बोले, "बात यह है कि अंग की रानी धारिणी हमारी मृगावती की बहिन है। मेरा इरादा अंग को जीतने का है, दधिवाहन और धारिणी को नष्ट करने का नहीं। इस समय यदि दधिवाहन मेरे कहने से चले तो हम मगध और वैशाली के इस दंभ को तोड़ सकते हैं। परंतु राजा कभी बिना शक्ति के नहीं झुकते। छोटा-सा राज्य है। सीधे जाकर राजधानी पर हम आक्रमण नहीं करेंगे। सीमाप्रांत पर लोगों को डराएंगे। अंग समर्पण करेगा। न करेगा तो करेगा क्या? ऐसा तो हो नहीं सकता कि वह युद्ध में हमसे जीत ले। जरा-सा झुकते ही हम अंग का शासन अपने हाथ में न लेकर दधिवाहन के ही हाथ में रखेंगे। बहनें हैं रानियां, और तब मगध को देखा जाएगा। यह कांटा मेरी आंखों में बहुत गड़ रहा है धनवाह! अवंति से मैं नहीं चौंकता, क्योंकि महासेन चण्डप्रद्योत वस्तुतः मूर्ख है। प्रसेनजित् अपने कोसल को काशी जीतकर महाकोसल कहने लगा है और काशी को मगध को देकर उसने

ास्ती कायम कर ली है। फिर भी प्रसेनजित् की मुझे चिंता नहीं। चालाक तो ह है बिंबसार। वैसे बड़ा मीठा है। क्या सोचते हो!"

मैंने कहा, "महाराज! अंग और वत्स का पुराना मनमुटाव है। अंग अवश्य धर-उधर की शक्तियों को बुलाएगा और आपकी योजना शायद सफल न हो। पराध क्षमा करें। आपने राय ली है तो मुझे खुशामद में सिर्फ हां नहीं मिलानी ाहिए।"

"इसीसे तो मैं तुमसे प्रसन्न हूं धनवाह! तुम बताओ।"

मैंने कहा, "देव! आप आक्रमण न करके यदि प्रेम-भेंट के रूप में वहां जाते ा स्वयं देवी मृगावती को भेजते, तो यह कूटनीतिक चाल अच्छी चलती।"

"लेकिन तब अंग मुझसे हिस्सा मांगता न? और यही क्या निश्चय है कि वा ान ही लेगा?"

"हां, यह बात तो है।"

"अब जो होगा सो देखा जाएगा।"

और इस तरह हमने काशी के बाद गंगामार्ग में छिपकर यात्रा प्रारंभ की। ज तुम इधर आये थे तब मगध के पास कोई गंगातीर पर बसी अच्छी बस्ती नहीं थी अब इधर एक ब्राह्मण ने एक पाटलि गाम[1] बसा दिया है। अच्छा बड़ा हो गया है व ाव बहुत जल्दी। वहां से आगे बढ़ने पर हमें वनप्रदेश में उतर जाना पड़ा। अ मैं तुम्हें क्या बताऊं कि युद्ध कैसे हुआ। वह कथाएं भी मैंने बाद में सुनीं। मु महाराज ने एकांत में बुलाकर कहा, "धनवाह! युद्ध तो होगा ही। यहां और भ मामला है।"

"क्या हो गया देव!"

"यह दधिवाहन मुझे कुछ सिड़ी मालूम देता है।" वे बोले।

"सिड़ी!" मैंने चौंककर कहा, "सो क्यों महाराज!"

"यह कोई तपस्वी होता तो कहीं अच्छा रहता। अच्छा सुनो। तुम वेश बदल और किसी प्रकार अब चंपा में घुस जाओ। धारिणी और उसकी कन्या की खब लाओ।"

---

१. आगे चलकर पाटलिपुत्र बना—पटना।

मैंने कहा, "जो आज्ञा!" और चला गया।

मैं बना एक लखेरा और लाख की चूड़ियां पहनाने वाले के रूप में चंपानगरी में चक्कर लगा आया। पर कहीं सुराग नहीं लगा। एक दिन ऐसा हुआ कि मैं अंगराज्य के दक्षिण-पूर्व में जा पहुंचा क्योंकि मुझे धारिणी देवी से भी अधिक महत्त्व उधर मिला। देखता क्या हूं कि सीमा पर कुछ मागध सैनिक खाना पका रहे थे। तुम तो जानते हो कि मैं मागधी खूब बोल लेता हूं। भूखा बनकर उनके पास चला गया। बातों में उन्हें जीत लिया। उन्हें चूड़ियां दे दीं और उनसे खाना खाया। मदिरा के लिए उन्हें धन दिया, और जब वे नशे में मस्त हो गए, उनमें मुझे पता चला कि यहां तो खेल ही दूसरा था। मगधराज बिंबसार उनके पास ही जंगल में छिपा हुआ था। वह यह प्रतीक्षा कर रहा था कि कब वत्स की सेना से अंग की सेना जाकर उत्तर में भिड़े और कब वह जाकर दक्षिण-पूर्व से चंपा पर दखल जमा ले। गजब का राजनीतिज्ञ था यह राजा बिंबसार। लोक में चिल्लाता था—हिंसा मत करो, हिंसा मत करो; पर था इतना चतुर। उसने तो अपने सैनिकों को छद्म-वेश में चंपा में घुसा रखा था, यहां तक कि उसको गुप्त परिषद् की भी बातें मालूम हो जाती थीं। वहीं मुझे मालूम हुआ कि दधिवाहन युद्ध नहीं चाहता था, और अङ्ग के लोग चाहते थे। उन्हीं में से जो दधिवाहन से असंतुष्ट थे, वे बिंबसार को खबर देते थे, बल्कि नौबत तो यहां तक थी कि बिंबसार बिना रक्त बहाए भी चंपा पर कब्जा कर सकता था, क्योंकि स्वयं प्रासाद में उसके आदमी थे। वत्स की सेना से वह लड़ना नहीं चाहता था। ऐसी हालत में मुझे पता चला कि हमारे महाराज तो कुछ भी नहीं जानते थे। मुझे यह लगने लगा कि चंपा जीतेगा यह बिंबसार ही और दधिवाहन, धारिणी और उनकी पुत्री बुरी तरह मारे जाएंगे। बिंबसार के कई रानियां हैं। फिर भी वह तृप्त नहीं है। ऐसे में जाने धारिणी देवी का क्या होगा? मागध, तुम जानते हो, बड़े गर्वीले हैं। उनमें अभी तक यह कथाएं प्रचलित हैं कि मागध ही था जरासंध, जिसने मथुरा तक उत्तरापथ को लूटा था।

और हुआ यही। मित्र मणिपूरकदास! तुम सुनो कि उधर वत्स की सेना बढ़ी, इधर दधिवाहन ने अकेले जाकर उसे रोका और इधर यह हाल था कि बिंबसार से कई व्यापारी वत्स में से मिले और उधर दधिवाहन ने अपने बलिदान से महाराज

शतानीक को रोकना चाहा और इधर चुपचाप विंवसार की सेना ने चंपापुरी पर अधिकार कर लिया। महाराज शतानीक चुपचाप लौट पड़े, क्योंकि लड़ने में वड़ा भारी खतरा था। मैंने सोचा कि अब क्या करूं? महारानी धारिणी और वसुमती को ढूंढ़ने भगदड़ में भी प्रासाद में घुस गया, लेकिन वहां मुझे वे दोनों नहीं मिलीं। और मैं उदास-सा लौट आया।

जब मैं कोसांवी पहुंचा तो इतना दुखी था कि महाराज से भी मिलने नहीं गया और वे इतने विकल थे कि वे भी मुझे बुलाते, यह उन्हें भी नहीं जंचा। महारानी मृगावती रोईं और महाराज शतानीक को उन्होंने लोभी, निष्ठुर जाने क्या-क्या कहा; और इस प्रकार वत्स एक शोक में डूब गया। मैं भी तब अपने व्यापार में लग गया। करता भी क्या? और इसी विषाद में मैं तुम्हें भी पत्र नहीं भेज सका, क्योंकि मुझे इस पराजय का वहुत वड़ा खेद था। मुझे आशा थी कि वत्स और अंग के एक हो जाने पर मगध अपना होगा और मेरे सार्थ निर्द्वन्द्व चलेंगे, परंतु ऐसा नहीं हो सका।

यों ही अनेक दिन वीत गये। एक दिन मैं वहुत चिंतित था। चिंता क्या थी? जीवन क्या है? क्यों है? वही सब जिसे तुम मूर्खता कहते थे। और दूकान से घर लौट रहा था कि रास्ते में दासों की हाट पड़ी। रोज ही दास-दासियों को वहां विकते देखता था, अतः कोई वात नहीं थी। परंतु उस दिन मैं कौतूहल से रुक गया।

एक अधेड़ स्त्री खड़ी चिल्ला रही थी और उसके पास खड़ी थी एक लड़की। शायद १४–१५ साल की होगी। थी अत्यंत सुंदर। सामने कुछ लोग खड़े थे। एक पालकी पास रुकी हुई थी। उससे उतरकर खड़ी थी नगरनायिका वेश्या अनंगसेना अपने वहुमूल्य वस्त्र पहने; और उसके साथ खड़ा था विट रोमलक विदिशा-निवासी। विट नगर में सम्मानित व्यक्ति होता है, यह तो तुम जानते ही हो। फिर रोमलक तो और भी विद्वान ठहरा। उसके पीछे वेश (वेश्याओं के वाज़ार) के कई लोग खड़े थे। अनंगसेना की भौं उठते ही वे लोग हिल उठते थे। अनंगसेना ठहरी कोसांवी की सवसे धनी वेश्या।

मैंने विट रोमलक से जाकर आदरसूचक शब्द कहा, "भाव!"

वह मुझे देख एक ओर आ गया।

इस समय एक बंदर उछलकर उस सुंदर लड़की की तरफ आ गया। लड़की ने उसे केला फेंका। तब मैंने देखा कि उस लड़की के पास कुछ फल थे। वह ऐसी निर्विकार और निश्चित खड़ी थी जैसे उसे कुछ पता ही नहीं था कि क्या हो रहा था।

"क्या है आर्य!" विट ने कहा।

"यह क्या होना है?" मैंने पूछा।

उसने कहा, "कुछ नहीं आर्य! यह अधेड़ स्त्री एक रथी की पत्नी है। इसका पति मागधसेना में था, अब छोड़ आया है नौकरी। और बस गया है अपने घर। वहां से वह इस सुंदर लड़की को उठा लाया है। इस समय वह किसी काम से कहीं गया है और यह अधेड़ स्त्री इस लड़की को ऊंची कीमत पर बेचना चाहती है। अनंगसेना ने इसका रूप देखकर इसके चार हज़ार पण लगा दिए हैं। इतनी रकम और कौन दे सकता है। सबने छोड़ दिया है इसपर दाव लगाना। आप तो जानते ही हैं कि यह लड़की अगर अनंगसेना के यहां बड़ी हुई तो क्या न कर डालेगी। चार हज़ार पण तो पहली रात के ही हो जाएंगे। सौदा ऐसा था कि अधेड़ स्त्री तो तैयार हो गई मगर लड़की ने अचानक टांग मार दी। कह उठी, 'लगता है कि मेरी होने वाली स्वामिनी वेश्या है। और वह मुझे वेश्या बनाने को खरीद रही है। ऐसी अवस्था में मैं इसके हाथ नहीं बिकूंगी, क्योंकि दासी का काम कर सकती हूं, अपना स्त्रीत्व नहीं बेच सकती। और जब मैं पाप के पथ पर नहीं जा सकती, तो इसके धन पर पलकर इससे विश्वासघात नहीं कर सकती।'"

यह कहकर विट ने कहा, "बस आर्य! इतनी-सी बात है। मगर लड़की ग़ज़ब की है। यह कहकर चुप है, जैसे कोई चिंता ही नहीं। आई थी यह जब इस हाट में कुछ देर पहले, तो अधेड़ स्त्री तो बोल भी न पाई, यह स्वयं पुकारने लगी, अरे कोई मुझे खरीद लो। यह मेरी मां मुझे बेचना चाहती है। इसने मुझे इतने दिन रोटी दी है। इसके पति ने मुझे बेटी की तरह पाला है। इनका मुझपर बड़ा अहसान है। उसे चुकाने को नहीं, वरन् इनके इस दारिद्र्य को मिटाने को मैं खुद बिकना चाहती हूं जिसने इन्हें ऐसा बना दिया है। लगाओ बोली! जो ऊंची

कीमत देगा मैं उसकी दासी वनूंगी।"

विट चुप हो गया। तव वेश्या अनंगसेना ने कहा, "यह तो पण्य है। मैं
देती हूं। मुझसे अधिक कोई देता नहीं। तव यह लड़की मेरी हुई।"

अधेड़ स्त्री ने कहा, "आर्ये! आप ले जायें इसे। मैं तो वस धन चा
हूं।"

वड़ी हृदयहीनता थी वहां। पर नित्य ही वहां ऐसा होता है। वेश्या ने
वढ़कर उस लड़की का हाथ पकड़ा। वंदर ने देखा कि फलवाली लड़की पकड़
रही थी, सो अनंगसेना पर टूट पड़ा। अनंगसेना भागी और वेश के लोगों
वचाया। तव वह रोने-चिल्लाने लगी।

मैंने देखा। सामने वह सुंदर लड़की खड़ी थी।

वढ़कर पूछा, "वेटी! तेरी कीमत क्या लगी है?"

उसने मुझे देखा और कहा, "चार हजार पण।"

"मैं पांच हज़ार देता हूं!"

अधेड़ स्त्री हर्ष से चिल्ला-सी उठी और मैं उसे ले आया। आ गई
साथ।

मणिपूरकदास! जीवन में मुझे एक नई सार्थकता दिखाई दी। मु
कि मैं नरक में से एक आत्मा को उवार लाया था। वहां मनुष्य पशुओं
विकते हैं। कव आयेगी मनुष्य को इस वर्वरता पर लज्जा! कव वह
मनुष्य होगा! परंतु वह ऐसी थी जैसे उसे कुछ भी चिंता नहीं थी।

वाज़ार में लोगों ने मुझपर व्यंग्य भी कसे कि धनवाह ने कमाल व
मैंने कोई परवाह न की। घर जाकर मैंने अपनी पत्नी मूला से कहा, '
यह लड़की दासों की हाट से खरीदकर लाया हूं पांच हज़ार पणों में।'

मूला ने अवाक् होकर पूछा, "इतने दाम देकर! भला सुनूं तो इस
था! अव इस आयु पर लड़कियां रखोगे? मेरे रहते!"

मेरा मन विपाक्त हो गया। दासी ने मेरी व्यथा को जैसे स
... "मां! पिता ने मुझे नहीं खरीदा! नारी जाति के अपकार

मैंने चौंककर देखा। मूला विस्मित-सी खड़ी रही।

लड़की खूब काम करती थी। शायद मूला ने उससे काम लेने में कसर भी नहीं की। मैं देखता था। एक दिन मैंने मूला के सामने ही उससे कहा, "बेटी, इतना काम क्यों करती है?"

लड़की ने हंसकर कहा, "श्रेष्ठि! दास और दासी काम करने को ही तो होते हैं! उसमें और पशुओं में भेद ही क्या है?"

मूला बड़बड़ाई, "हां, हां! तुझे बिठाके चराऊं?"

जीवन के अभिशापों का अंत नहीं है मेरे मित्र? मैं तुम्हें इस पत्र में सब कुछ कैसे लिख सकता हूं। यों ही समझ लो कि मूला उसपर कठोरता करती, बल्कि कहूं कि अत्याचार करती और वह लड़की कभी शिकायत न करती जैसे वह जिंदा थी या मर गई थी, यह भी उसे नहीं मालूम था। हम उसे नई दासी कहते थे और वह इसी नाम से उत्तर दिया करती थी। जब कभी मूला बहुत कठोरता करती तब मैं उसे रोक देता था। और तब मूला ऐसी बातें कहती जैसे मैं उस लड़की पर मुग्ध था। परन्तु लड़की सदैव मुझे पिता कहती थी।

एक दिन मूला ने गर्म पानी से स्नान किया। मैं बाहर से आकर प्रांगण में पड़ी चौकी पर बैठ गया और मैंने पुकारा, "बेटी, गर्म पानी हो तो ले आ। पांव धो लूं।"

लड़की आ गई और मेरे पांव धोने लगी। मैंने कहा भी कि रहने दे, पर वह नहीं मानी। उसके खुले केश उसकी आंखों पर गिरने लगे। मैंने उसे परेशान होते देखकर लट पीछे हटाते हुए कहा, "बेटी! तेरा नाम क्या है?"

"नई दासी!"

"किसकी पुत्री है?"

"नहीं जानती पिता।"

"जब से तू आई है, घर में सुवास फैल गई है। अब से मैं तुझे नई दासी नहीं कहूंगा। तेरा नाम रखूंगा। क्या रखूं तेरा नाम! तूने घर में सुवास फैलाई है। मैं तुझे चंदनबाला कहा करूंगा।"

मूला हठात् ओट से सामने आ गई।

व्यंग्य से बोली, "क्या नाम रखा है लाड़ली का !"

मैंने कहा, "चंदनबाला।"

सच कहता हूं जैसी विचित्र मुद्रा उस क्षण मूला के मुख पर आई, वैसी मैंने शायद ही देखी हो। मैं नहीं जान पाया कि वह ईर्ष्या थी, कि प्रतिहिंसा, कि क्रोध, कि ग्लानि, कि विवशता।

एक दास ने आकर तभी कहा कि विदिशा के कुछ व्यापारी आये थे।

मैंने मूला से कहा, "देखो आर्ये! संभवतः मैं अभी इनके साथ ग्राम प्रांत में जाऊंगा। व्यापार का काम है।"

"कब तक आओगे ?" उसने पूछा।

"तीन-चार दिन लग सकते हैं।"

"वाह! फिर मुझे तो मायके जाना है। अभी तुमसे कहना ही चाहती थी।"

"तुम चली जाना किसी सेवक को साथ लेकर।"

कुछ पता नहीं चला कि मूला के कहने का क्या मतलब था। मैं चला गया। लाभ भी खूब हुआ।

चौथे दिन लौटा तो क्या देखता हूं कि घर में कोई नहीं। दास-दासियां छुट्टी पर हैं। सोचा और होता भी क्या? स्वामी नहीं, स्वामिनी नहीं। मूला मायके गई है और मैं गया गांव। घर में रहकर भी क्या करता कोई। पशुशाला के सेवक अवश्य थे। वृद्ध गोपाल ग्वाले को मैंने बुलाकर कहा, "अरे गोपाल! स्वामिनी गई थीं तब तू था ?"

"हां स्वामी! मैं था। वे रोहितक को साथ लेकर गई हैं।"

"और चंदनबाला कहां है ?"

"नई दासी ?" गोपाल ने कहा, "अपने घर गई होगी।"

"उसका घर कहां से आया ?" मैंने कहा।

गोपाल चला गया, पर मैं चिंता में पड़ गया। गई तो कहां गई!! कहीं भाग तो नहीं गई! दासी का क्या! मुझे क्रोध चढ़ने लगा। इन दास-दासियों को इतना सिर पर चढ़ाना ही नहीं चाहिए। हम तो सोचते हैं, मगर ये कहां सोचते हैं! इनका तो मन छोटा ही होता है न।

यही सब सोचता हुआ मैं आंगण मे बैठा था कि कहीं भीतर खनखनाहट की हल्की आवाज़-सी सुनाई दी।

कौतूहल से उठकर गया तो आवाज़ मुझे भोंयरे के बंद द्वार के पीछे से सुनाई दी।

भोंयरे में! यहां कौन है? मूला ने किसीको दंड दिया होगा! मगर किसे! घर में है कौन जो इस बन्दी को खाना देगा!

मैंने पुकारा, "कौन है भीतर!"

"नई दासी!" सुनाई पड़ा एक क्षीण स्वर।

लपककर मैंने द्वार खोला। अंधेरा दूर नहीं हुआ तो मैंने राजपथ की ओर वाला द्वार भी खोल दिया। उजाले मे देखा। चंदनबाला। सिर के लम्बे केशों की जगह सियाड़े जैसे कटे हुए केश। शरीर पर मैल। हाथों मे हथकड़ी, पांव में बेड़ियां!

"चंदनबाला!" मैं आर्तवेदना से चिल्ला उठा, "यह किसने किया?"

उसने धीरे से मुस्कराकर कहा, "भाग्य ने!"

भाग्य!! मैं देखता रह गया।

"पानी! कुछ खाने को दें आर्य! तीन दिन से यहीं बंद हूं।" यह कहकर वह फिर मुस्कराई।

उस मुस्कान, उस धैर्य को देखकर मुझे लगा कि मेरे सामने एक बड़ी शक्ति खड़ी थी। किसीसे कोई शिकायत नहीं।

मैं भागा। खाने को था क्या! कुछ नहीं। एक सूप में उड़द के बाकले रखे थे। उन्हें लेकर मैंने फिर भोंयरे मे जाकर कहा, "बेटी! तीन दिन की भूखी है। ले तब तक इसे खा। मैं अभी आया, लुहार को लाऊँ तो तेरी बेड़ियां कट जाएँ।"

मैं चला गया। जब लौटा तो क्या देखता हूं कि चंदनबाला राजपथ की ओर वाले भोंयरे के द्वार पर खड़ी है। उसका एक पांव भीतर है, एक बाहर है। फटे और मैले कपड़ों मे उसका वक्ष और शरीर झांक रहा है। आंखों में आंसू हैं, किन्तु होठों पर प्रशांत मुस्कान है और सामने असीम करुणा लिए खड़े हैं वर्धमान महावीर। भिक्षा ले रहे हैं श्रमण। दिगंबर! हड्डी-हड्डी निकल रही है। सड़क पर

लोग चिल्ला रहे हैं, "श्रमण ने पन्द्रह दिन का उपवास तोड़ा है, यह लड़की धन्य है जिससे इस तपस्वी ने भिक्षा ली है!"

उसी समय श्रमण ने हाथ उठाकर लड़की से कहा धीरे से, "धीरज रख!"

श्रमण मुड़कर चल पड़े। निर्विकार! चंदनबाला देखती रही।

भीड़ में से एक व्यक्ति ने रोते हुए उसके पांव पकड़कर भर्राये स्वर से कहा, "राजकुमारी! यह क्या हुआ राजकन्ये! अरे मैं मर क्यों न गया! अरे मेरी छाती क्यों न फट गई? मैं ही हूं वह नीच जो चंपा की महारानी को वासना से मदांध होकर पकड़कर धोखे से ले जा रहा था। मेरे ही कारण उस सती तपस्विनी ने हंसते हुए कटार अपनी छाती में यह कहते हुए मार ली थी कि रथी! स्त्री को देख-कर मां समझ! उसे लोलुप वासना का पात्र मत समझ! तू इस रूप से जल रहा है, तो मैं इसे बुझा देती हूं?"

वह व्यक्ति तब फूट-फूटकर रोने लगा और फिर उसने भीड़ से कहा, "चंपा की महारानी इस तरह मेरे ही कारण मर गई। तब मेरी आंखें खुलीं। सब तरफ लूट मच रही थी। तब मैं इन्हें—राजकुमारी वसुमती को छिपाकर अपने घर ले आया। वहां से यह खो गई और आज इस हालत में देख रहा हूं इन्हें।"

वह चंदनबाला के पांव पकड़कर रोने लगा। चंदनबाला ने मुस्कराकर कहा, "पिता! अब मैं भिक्षा दे चुकी। थोड़ा खा लूं। तीन दिन की भूख है। पहले मिटा लेनी चाहिए!"

"तीन दिन की भूख!" वह चिल्लाया।

मैं आगे बढ़ा।

रथी ने कहा, "कौन! श्रेष्ठि धनवाद! तुम्हारे पास कहां से आई यह? चुरा लाए तुम इसे!"

चंदनबाला ने उर्द के बाकले खाते हुए कहा, "नहीं पिता! मुझे इन पिता ने खरीदा है। पांच हजार पण देकर!"

"किसने बेचा तुम्हें?" रथी ने विस्मय से पूछा।

"भाग्य ने!" चंदनबाला मुस्करा दी।

भीड़ बढ़ रही थी।

! "आओ ! आओ ! देखो !

"योद्धाओं के भुजदण्ड फड़क रहे हैं और लोथों पर लोथें गिर रही है। चारों ओर हाहाकार मच रहा है।

"मागव दधिवाहन का महल लूट रहे हैं।

"यह कौन है ?

"यह सेनापति रुद्रवर्मा की पुत्री विरजा है। इसपर सैनिक झपट रहे हैं। आ पहुंची। आ पहुंची। पुरानी दासी जरिता। वह आततायी का सिर काट देती है और तब उन दोनों स्त्रियों को सैनिक मार डालते हैं।

"सावधान ! रोना नहीं। श्याभेलिका का सिर अब भालों पर गड़ा आकाश की ओर उठ गया है।

"और रानी धारिणी बैठी है। बगल में बैठी है राजकुमारी वसुमती। जैसे पूर्णचन्द्र के पास रोहिणी हो। कोलाहल सुनकर मां कहती है: बेटी ! छिप जा। शायद अत्याचारी आ गए हैं।

"बेटी कहती है : ओ मेरी मां ! मैं किसीसे नहीं डरती। मेरे पिता का सत्य मेरे पास है। उसे कलंकित कर जाए ऐसा साहस किसीमें नहीं।

"वासना में चकित हो जाती हैं लुटेरे रथी की आंखें। सोचता है कि बिंबसार इन्हें पकड़ लेगा तो मुझे क्या मिलेगा। जाकर कहता है : रानी ! राजा रण से भाग गए। चलो, उन्होंने वन में बुलाया है।

"रानी कहती है : अरे नीच ! ऐसा नहीं हो सकता। और जो यह सत्य है, तो मैं यहीं मरूंगी। ऐसे कायर से मुझे क्या नाता ?

"तब वह छली कहता है : रानी ! रणभूमि की नीति रुद्रवर्मा ने यही नियत की। मगध के अचानक आक्रमण में यही आवश्यक हो गया।

"तब वह मां-बेटी को बहकाकर वन में ले जाता है और जब आकाश का हृदय संध्या ने लाल कर दिया है, कहता है : ओ रानी ! तू फूलों में चम्पा है, तू नक्षत्रों में चन्द्रमा है। वह सब झूठी बात थी। तेरा राजा तो मारा गया। अब न तेरा वत्स में ठिकाना है, न मगध में, न चम्पा में। तू तो स्त्री है। कोई न कोई तो तेरा भोग करेगा ही। आ अब मुझे यौवन दान दे। मैं तुझे बड़े प्यार से रखूंगा।

मा प्रिये।

"रानी सुनती है तो रोती नहीं। बिटिया 'हा पिता' कहकर रोती है तो रानी कहती है: रो नहीं पुत्री! तेरे पिता वीर थे, उनके स्तर तक उठ।

"रथी अधीर होकर हाथ पकड़ता है तो रानी दूसरे हाथ से कमर से कटार निकालकर अपना वह हाथ काट देती है और कहती है: मत छू मुझे, वासना से रथी! यदि मेरा रूप तुझे मनुष्य से पशु बनाता है तो ले।

"रानी मरती है। रथी घुटनों के बल बठकर रो-रोकर चिल्लाता है: मा! मैं पापी हूं! तू देवी थी। मैं कुत्ता हूं।

"पर बिटिया नहीं रोती! वह मां का शव देखती है और उसके चरणों पर हाथ रखकर कहती है: मां! तेरा गौरव मुझे बल दे। पिता का बलिदान मुझे सत्य दे।

"रथी चिता बनाकर रानी को रखकर उसपर कूदकर जान देना चाहता है तो बिटिया रोककर कहती है: ओ रथी! तू मेरा पिता है अब! कायर मत बन! राह रुकी नहीं है। यहीं से जीवन को पवित्र करना प्रारम्भ कर।

"तब रथी उसके पाव पकड़कर कहता है: तो चल मा! मेरे घर चल।

"ओ सुनने वालो गंगा पर नौका चली, मांझियों ने पतवार डाले और जमुन पर नौका आई, रथी भी मनुष्य से देवता समान हो गया। ऐसी है उस बिटिय की वाणी।"

अब स्त्रियां गाती हैं, "हाय री मिरिया! हाय री चूलकोका! तुमने स्त्रं को इतना निर्बल बनाया तो उसके हृदय मे इतना विष क्यों भर दिया। रथी तं उसको बेटी बनाकर रखता है, पर रथी की स्त्री समझती है कि यह लड़की मेरं सौत है। और उसे एक दिन पति से छिपकर बेच आती है।

"रथी लौटकर पूछता है: मेरी लाडली, मेरी दुलारी बिटिया कहा है?

"रथी की स्त्री कहती है: पुरुष बड़ा छलिया होता है यह मैं खूब जानती हूं पर वह तो कहीं भाग गई।

"रथी को विश्वास नहीं होता। तब उदास हो जाता है वह जीवन से।"

गीत बहुत लम्बा है। उसका अन्त ऐसा है:

"यह अभिग्रह करके कौन निकला है !

"अरे यह तो महावीर है ! परम वीर है ! वर्धमान श्रमण है। पन्द्रह दिन का भूखा है। उसने सोचा है कि वह जीवन में फिर लौटेगा तो तब जब उसे ऐसा प्राणी मिलेगा ! कैसा प्राणी ! जानते हो ! ऐसा रे ऐसा ! सुनो ऐसा ! वह जिसे दासत्व ने बांधा है, पर जो स्वतंत्रता का प्रकाश देख रहा है। जिसका मन स्वतंत्र है। वह जो रो रहा है, दुःखी है, परन्तु सत्य की विजय की मुस्कान जिसके होठों पर खेल रही है। जिसके पास खाने को नहीं है, फिर भी दूसरे को देकर ही खाना चाहता है।

"चल पड़ा है श्रमण ! कोसांबी के धनाढ्य उसके तप का लाभ उठाने उसे दान देने को पीछे चल रहे हैं। परन्तु महावीर तो भूखों और दासों को जगाने आया है। वह अपनी तपस्या को और भी पवित्र करेगा। लोक के पीड़ित से अपनी अंजलि भर कर। यह नंगा तपस्वी है न ? इसने अपने विकारों को जीत लिया है।

"अधनंगी खड़ी है चंदनवाला। नंगा खड़ा है श्रमण। दोनों ओर कोई विकार नहीं। जय हो ! इस अनासक्ति की जय हो ! असीम करुणा से दोनों एक दूसरे को देखते हैं। महावीर सचमुच महावीर है। वह स्त्री से डरता नहीं। वह स्त्री को भी साधना में पवित्र मानता है। आत्मा सबमें है। सब ही पवित्र हो सकते हैं।

"ओ मूला देख ! तू इसको सौत समझे थी न ? देख यह कैसी पवित्र है ! तूने इसको कुरूप बनाने को-इसके केश काटे थे न ? देख यह तो और भी सुन्दर हो गई। तूने इसे मैले-फटे वस्त्र पहनाकर नंगा किया था, पर यह तो सत्य के तेज से ढंकी है। तूने इसे भोंयरे में डालकर मार डालना चाहा था, पर यह तो अमर हो गई।"

"रथी रोता है, ओ ओ ओ !

"यह तो मेरी मां है !

"हाय ! राजकुमारी मेरी दासी बनकर रही ? हृदय फटा जा रहा है, श्रेष्ठि धनवाह का ! "

बस मित्र ! अब मैं यहां तक लिखूं यह गीत !

मैं तो देख रहा हूं कि वसुमती खड़ी है पथ पर। भीड़ें जुड़ रही हैं। और वह कह रही है, "कौशाम्बी के नागरिको, नागरिकाओ ! जीवन एक कठोर यातना है, क्योंकि स्त्री और पुरुष एक-दूसरे से घृणा करते हैं। घृणा का जन्म हो रहा है झूठे प्रेम से। झूठा प्रेम है यह व्यक्ति का व्यक्ति के प्रेम में बन्दी हो जाना, अपने को सीमित कर लेना। इसीने क्षुद्रत्व को जन्म दिया है। इसीके कारण मनुष्य लोक को प्यार नहीं करता। तीर्थंकर की वाणी भी तब तक व्यर्थ है, जब तक मनुष्य के लिए नहीं है। मैंने सोचा था कि चम्पा का उद्धार करूंगी, किन्तु चम्पा ही नहीं, सारा लोक दुःखी है। मैंने सोचा था कि स्त्री के साथ अत्याचार होता है, किन्तु सभी स्त्री-पुरुषों के साथ अत्याचार हो रहा है। कौन कर रहा है यह अत्याचार ! स्त्री और पुरुषों पर स्त्री और पुरुष ही तो अत्याचार कर रहे हैं। भाग्य का नाम मत दो उसे, वह तुम्हारे कर्मों का फल है। लोक के लिए सत्कर्म करो और व्यक्ति के लिए कर्मों की आसक्ति का नाश ! मुझे रथी पिता ने नहीं, उसकी पत्नी ने बेचा जो एक स्त्री थी। स्त्री ने स्त्री को बेचा पशु बनाकर। माता मूला ने चाहा कि मुझे मार डालें, उनके पति ने नहीं। यह झूठ है कि स्त्री पर अत्याचार हो रहा है। अत्याचार स्त्री-पुरुष दोनों पर है। स्त्री पुरुष पर भार है, अतः वह स्वामी बनकर भ्रम में पड़ता है और उसे दबाता है। और स्त्री छल से उसे दास बनाती है अपने यौवन के बल पर !"

मित्र ! शतानीक के भेजे हुए राजकर्मचारी आए वसु को ले जाने। खबर वहां तक पहुंच गई। परन्तु वसु ने क्या कहा। जानते हो ? उसने कहा, "माता मृगावती और पिता शतानीक से कहना कि वसु अब चन्दनबाला हो गई है। चन्दन उठकर ही गंध देता है। बिना कुछ किए जो मुझे यह पवित्र नाम मिल गया है, उसके लिए मुझे अपने को योग्य प्रमाणित करना होगा, क्योंकि जिसने मुझे यह नाम दिया है, उसने तब मुझे यह नाम दिया जब मैं उ[illegible] दासी थी। पिता धनवाह एक महान आत्मा है। अब मुझे प्रासादों में नहीं [illegible] जाकर यह सुनाना है कि दुःख से लड़ो, दुःख को मिटाओ। सो[illegible] पर कोई सुख नहीं।"

राजकर्मचारी लौट गए।

चन्दनबाला चल पड़ी। भीड़ चल पड़ी। मृगावती और शतानीक, रथी, मूला, रथी की पत्नी, नगरनायिका अनंगसेना और मैं, सब पथ पर खड़े रोने लगे। भीड़ ने वसु के चरणों में प्रणाम किया। महाराज शतानीक और मृगावती ने आशीष दिया।

वह चली गई। कहां?

वहां जहां वर्द्धमान श्रमण थे।

देखा तो मुस्कराए। पवित्र मुख, निर्विकार, दिगंबर! देखकर ही लगता था कि यह व्यक्ति महावीर था! जैसे उसने कहा था, "मुझे देखो! ऐसा होता है मनुष्य! नग्नता से घृणा करते हो? तुम अपने विकारों के कारण अपने आपको देखना भूल गए हो?

वसु ने कहा, "श्रमण! आई हूं आपके चरणों में सत्य खोजने। स्त्री हूं—पुरुष ने जिसे वासना का पुञ्ज कहा है। स्थान मिलेगा?"

महावीर ने कहा, "साध्वी! तूने मेरे अभिग्रह की रक्षा की। खोजने निकला था लोक में, कौन है ऐसा जो मेरे कार्य को बढ़ा सके। दासता तोड़नी है, तोड़नी है शृंखला। दुःख पर विजय पानी है, उसमें मुस्कराकर। तू खड़ी थी। स्त्री है! यह तो प्रकृति है। लोक के लिए पुरुष और स्त्री आवश्यक हैं। तप करके पवित्र होने के लिए घर से भागकर जाना आवश्यक नहीं, कहकर जाना चाहिए। हम वीरता प्राप्त करके निकलते हैं। कहकर घर से निकलो, यदि उस महान लक्ष्य तक न पहुंचो तो कम से कम इस निर्बलता को तो पहचानो। कोई ईश्वर नहीं है कि अपने पाप-पुण्य उसपर फेंक सको। यह तो निरंतर चलती रहने वाली प्रकृति है। स्त्री वासना है। अवश्य है। पुरुष को रोकती है। परंतु पुरुष भी वासना है। अवश्य है। वह स्त्री को रोकता है। मुझे चाहिए स्त्रियों को नवीन चेतना देने वाली तपस्विनी। दूसरों को मार्ग दिखाने के पहले अपने को इस योग्य बनाना होगा। ज्ञान देने के पहले स्वार्थ और लोलुपता से उठना होगा। जिन धर्म बहुत प्राचीन है चंदनबाला! कभी मत समझो कि तुम और तुम्हारा युग ही महान है। प्रत्येक युग महत्त्वपूर्ण है। अवसर्पिणी पर अवसर्पिणी बदलती चली जाती है। उत्थान और पतन होते रहते

[illegible] बिलकुल मिट जाना चाहिए ।

महाराज ने कहा, "ठीक कहते हो श्रेष्ठि ! हमारे राज्य में गण-व्यवस्था का अस्तित्व है कहां ? फिर भी है, परंतु मैं अकेला ही तो इसे नहीं मिटा सकता । फिर भी मैंने शास्त्रियों को बुलाया है और वे दास-दासियों के उत्थान के लिए नियम बना रहे हैं ।"

मैं समझता हूं यह बहुत बड़ा परिवर्तन होगा ।

अब मैं अपना पत्र समाप्त करता हूं । श्रेष्ठि सोमदत्त का राजगृह से एक सार्थ यहां आया है । वह लौट रहा है कौशांबी से । उसीके हाथ पत्र भिजवा रहा हूं । वे इधर किसी धूर्त के चक्कर में फंस गए सुने जाते हैं । पर फिर भी मुझे आशा है कि वे अपने किसी पूर्व की ओर जाते सार्थ के हाथ यह पत्र ताम्रलिप्ति तक पहुंचवा ही देंगे । यदि यह पत्र पा सको तो मुझे उत्तर भिजवा देना । सकुशल होगे और विद्याधरों और यक्षों से प्रार्थना करता हूं कि सदा सुखी रहो । इन्द्र रक्षा करें । समस्त लोकों के एकमात्र आधार विष्णु तुम्हारा मंगल करें !

परिशिष्ट

महावीर स्वामी के उपदेशों को उनके कई वर्षों के बाद लिखा गया, इ
लए उनके सामाजिक रूप प्राय: लुप्त हो गए हैं। किन्तु उन्होंने जैसा जी
प्रतीत किया वह यही बताता है कि वे अपने समय में एक बड़े उद्धारक के
ं आए थे।

आज युग बदल गया है। उस समय आर्थिक विषमताओं के मूल कारण
ज्ञान न होने के कारण उसे पुराने लोग समझ नहीं पाते थे। आज उनका नि
रण और तरीकों से भी हो सकता है। आज हमारे विचार बहुत-सी बातों
नयी-नयी जानकारी पाकर आगे बढ़ चुके हैं। परन्तु जहां तक मनुष्य के महत्व
का प्रश्न है, वह आज भी जीवित है।

मार्क्स ने यह समझा था कि सम्पत्ति के कारण मनुष्य में स्वार्थलिप्सा, प
लिप्सा और लोलुपता जागी थी। परन्तु यह मार्क्स की गलती थी। मनुष्य
यह तत्त्व पहले ही थे, सम्पत्ति ने उन्हें बल दिया। सम्पत्ति का समाजवादीक
होने पर भी यह पद और स्वार्थलिप्सा रूस में बची हुई है, यह स्पष्ट हो गया है

यह मह् किस प्रकार उदात्त हो सकता है, इस पर मैंने 'रून की गोद'
विश्लेषण किया है।

* *